भक्ति साहित्य

सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ

(Bhakti Literature: Social, Political, Religious and Cultural References)

सतवंत सिंह

भक्ति साहित्य : सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ

भक्ति साहित्य : सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ

(Bhakti Literature: Social, Political, Religious and Cultural References)

सतवंत सिंह

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5575-5

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

आदिकाल के वीरता और शृंगार से परिपूर्ण साहित्य से एकदम भिन्न इस काल के साहित्य में भक्ति की शान्त निर्झरिणी बहती है। कोई भी साहित्यिक प्रवृत्ति यूँ ही अचानक विकसित नहीं होती, उसके पीछे कई प्रमुख कारक, कई शक्तियाँ और तमाम परिस्थितियाँ सक्रिय रहती हैं। साहित्य भी इनसे अवश्य प्रभावित होता है और कालांतर में एक नया स्वरूप ग्रहण करता है। लगभग 300 वर्षों के भक्ति साहित्य का सृजन कोई सहज-सरल घटना नहीं थी। तत्कालीन इतिहास और समाज पर नजर डालें तो स्पष्ट होता है कि इसके पीछे कोई एक नहीं, बल्कि अनेक परिस्थितियां सक्रिय थीं।

भक्तिकाल को हिंदी साहित्य का स्वर्णिम काल कहा जाता है। कविवर रहीम, तुलसी, सूर, जायसी, मीरा, रसखान आदि इसी युग की देन हैं, जिन्होंने धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत कविताओं, छंदों आदि के माध्यम से समाज के सम्मुख वैचारिक क्रांति को जन्म दिया।

इन कवियों ने भक्ति भाव के साथ ही साथ लोगों में नवीन आत्मचेतना का संचार भी किया तथा अपने उन्नत काव्य के माध्यम से समाज को एक नई दिशा दी। भक्तिकालीन काव्यधारा को प्रमुख रूप से दो शाखाओं में विभाजित किया गया है–निर्गुण भक्ति शाखा तथा सगुण भक्ति शाखा। निर्गुण मार्गी शाखा के प्रमुख कवि कबीर, रैदास आदि थे।

इनमें कबीरदास जी सर्वाधिक प्रचलित हुए। वे इसी युग के श्रेष्ठ संत रामानंद के शिष्य थे, जिन्होंने तत्कालीन समय में व्याप्त जात-पाँत के भेद-भाव को दूर कर समाज में मानवतावाद की स्थापना का प्रयास किया। कबीरदास जी ने उन्हीं के मार्ग का अनुसरण किया तथा अपनी काव्य रचना में निर्गुण मत का प्रचार-प्रसार किया।

भक्ति युग की सगुण मार्गी शाखा को पुनः दो प्रमुख धाराओं-राममार्गी धारा तथा कृष्णमार्गी धारा के रूप में विभाजित किया जा सकता है। राममार्गी धारा के प्रमुख कवि तुलसीदास जी हुए हैं, जिन्होंने भगवान राम की उपासना से संबंधित श्रेष्ठ काव्यों की रचना कर ख्याति प्राप्ति की।

वहीं दूसरी ओर कृष्णमार्गी धारा के प्रमुख कवि सूरदास जी हुए हैं। सूरदास जी ने कृष्ण भक्ति का मार्ग अपनाते हुए कृष्ण लीला का जो सजीव चित्रण संसार के सम्मुख प्रस्तुत किया वह अतुलनीय है।

इसके अतिरिक्त निर्गुण शाखा के मलिक मुहम्मद 'जायसी' का नाम भी प्रमुख है जिन्होंने प्रेम के मार्ग को प्रधानता दी और बताया कि ईश्वर प्राप्ति का आधार प्रेम-मार्ग ही है।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**भक्ति काल**	**1**
	कृष्णाश्रयी शाखा	7
	रामाश्रयी शाखा	9
	ज्ञानाश्रयी मार्गी	12
	प्रेमाश्रयी शाखा	13
2.	**भक्ति– उद्‌भव एवं विकास**	**14**
3.	**भक्तिकालीन साहित्य का सामाजिक सरोकार**	**19**
	समाज का वर्गीकरण	23
	समाज की परिभाषा	24
	समाज का अवयवी सिद्धान्त	28
	मनुष्य एवं समाज में आश्रिता	28
	समाज के प्रमुख तत्त्व	29
	भक्ति आन्दोलन के सामाजिक आधार	32
4.	**भक्ति आन्दोलन की सामाजिक पृष्ठभूमि**	**47**
5.	**भक्तिकालीन हिंदी साहित्य और तत्कालीन परिस्थितियाँ**	**77**
	राजनीतिक परिस्थितियाँ	78
	सामाजिक परिस्थितियाँ	78

धार्मिक परिस्थितियाँ 79
सांस्कृतिक परिस्थितियाँ 80
6. भक्तिकाल– हिंदी साहित्य का स्वर्णकाल 82
कबीर की साखी 83
7. निर्गुण ज्ञानाश्रयी 131
निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रमुख संत कवियों का परिचय 131
कबीर 131
रज्जब 132
सुंदरदास 134
दादूदयाल 135
धर्मदास 137
8. सगुण का अर्थ 141

1

भक्ति काल

भक्ति काल क्या है? भक्ति काल अपना एक अहम और महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। आदिकाल के बाद आये इस युग को पूर्व मध्यकाल भी कहा जाता है। जिसकी समयावधि संवत् 1343ई से संवत् 1643ई तक की मानी जाती है। यह हिंदी साहित्य (साहित्यिक दो प्रकार के हैं-धार्मिक साहित्य और लौकिक साहित्य) का श्रेष्ठ युग है। जिसको जॉर्ज ग्रियर्सन ने स्वर्णकाल, श्यामसुन्दर दास ने स्वर्णयुग, आचार्य राम चंद्र शुक्ल ने भक्ति काल एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक जागरण कहा। सम्पूर्ण साहित्य के श्रेष्ठ कवि और उत्तम रचनाएं इसी युग में प्राप्त होती हैं।

दक्षिण में आलवार बंधु नाम से कई प्रख्यात भक्त हुए हैं। इनमें से कई तथाकथित नीची जातियों के भी थे। वे बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे, परंतु अनुभवी थे। आलवारों के पश्चात दक्षिण में आचार्यों की एक परंपरा चली जिसमें रामानुजाचार्य प्रमुख थे।

रामानुजाचार्य की परंपरा में रामानंद हुए। उनका व्यक्तित्व असाधारण था। वे उस समय के सबसे बड़े आचार्य थे। उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में ऊंच-नीच का भेद तोड़ दिया। सभी जातियों के अधिकारी व्यक्तियों को आपने शिष्य बनाया। उस समय का सूत्र हो गया–

जाति-पांति पूछे नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई॥

रामानंद ने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर बल दिया। रामानंद ने और उनकी शिष्य-मंडली ने दक्षिण की भक्तिगंगा का उत्तर में प्रवाह किया। समस्त उत्तर-भारत इस पुण्य-प्रवाह में बहने लगा। भारत भर में उस समय पहुँचे हुए संत और महात्मा भक्तों का आविर्भाव हुआ।

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने पुष्टि-मार्ग की स्थापना की और विष्णु के कृष्णावतार की उपासना करने का प्रचार किया। उनके द्वारा जिस लीला-गान का उपदेश हुआ उसने देशभर को प्रभावित किया। अष्टछाप के सुप्रसिद्ध कवियों ने उनके उपदेशों को मधुर कविता में प्रतिबिंबित किया।

इसके उपरांत माध्व तथा निंबार्क संप्रदायों का भी जन-समाज पर प्रभाव पड़ा है। साधना-क्षेत्र में दो अन्य संप्रदाय भी उस समय विद्यमान थे। नाथों के योग-मार्ग से प्रभावित संत संप्रदाय चला जिसमें प्रमुख व्यक्तित्व संत कबीरदास का है। मुसलमान कवियों का सूफीवाद हिंदुओं के विशिष्टाद्वैतवाद से बहुत भिन्न नहीं है। कुछ भावुक मुसलमान कवियों द्वारा सूफीवाद से रंगी हुई उत्तम रचनाएं लिखी गई।

संक्षेप में भक्ति-युग की चार प्रमुख काव्य-धाराएं मिलती हैं–

1. सगुण भक्ति
2. रामाश्रयी शाखा
3. कृष्णाश्रयी शाखा
4. निर्गुण भक्ति
5. ज्ञानाश्रयी शाखा
6. प्रेमाश्रयी शाखा
6. भक्ति काल

हिंदी साहित्य का भक्तिकाल 1375 वि0 से 1700 वि0 तक माना जाता है। यह युग भक्तिकाल के नाम से प्रख्यात है। यह हिंदी साहित्य का श्रेष्ठ युग है। समस्त हिंदी साहित्य के श्रेष्ठ कवि और उत्तम रचनाएं इस युग में प्राप्त होती हैं।

रामानुजाचार्य की परंपरा में रामानंद हुए। उनका व्यक्तित्व असाधारण था। वे उस समय के सबसे बड़े आचार्य थे। उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में ऊंच-नीच का भेद तोड़ दिया। सभी जातियों के अधिकारी व्यक्तियों को आपने शिष्य बनाया। उस समय का सूत्र हो गया– जाति-पांति पूछे नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।।

संक्षेप में भक्ति-युग की चार प्रमुख काव्य-धाराएं मिलती हैं– ज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेमाश्रयी शाखा,,, कृष्णाश्रयी शाखा और रामाश्रयी शाखा, प्रथम दोनों धाराएं निर्गुण मत के अंतर्गत आती हैं, शेष दोनों सगुण मत के।

संत कवि

निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रमुख संत कवियों का परिचय कबीर, कमाल, रैदास या रविदास, धर्मदास, गुरू नानक, दादूदयाल, सुंदरदास, रज्जब, मलूकदास, अक्षर अनन्य, जंभनाथ, सिंगा जी, हरिदास निरंजनी।

परिचय

तेरहवीं सदी तक धर्म के क्षेत्र में बड़ी अस्तव्यस्तता आ गई। जनता में सिद्धों और योगियों आदि द्वारा प्रचलित अंधविश्वास फैल रहे थे, शास्त्रज्ञानसंपन्न वर्ग में भी रूढ़ियों और आडंबर की प्रधानता हो चली थी। मायावाद के प्रभाव से लोकविमुखता और निष्क्रियता के भाव समाज में पनपने लगे थे। ऐसे समय में भक्तिआंदोलन के रूप में ऐसा भारतव्यापी विशाल सांस्कृतिक आंदोलन उठा जिसने समाज में उत्कर्ष विधायक सामाजिक और वैयक्तिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की।

भक्ति आंदोलन का आरंभ दक्षिण के आलवार संतों द्वारा दसवीं सदी के लगभग हुआ। वहाँ शंकराचार्य के अद्वैतमत और मायावाद के विरोध में चार वैष्णव संप्रदाय खड़े हुए। इन चारों संप्रदायों ने उत्तर भारत में विष्णु के अवतारों का प्रचार-प्रसार किया। इनमें से एक के प्रवर्तक रामानुजाचार्य थे, जिनकी शिष्य परंपरा में आनेवाले रामानंद ने (पंद्रहवीं सदी) उत्तर भारत में रामभक्ति का प्रचार किया। रामानंद के राम ब्रह्म के स्थानापन्न थे जो राक्षसों का विनाश और अपनी लीला का विस्तार करने के लिए संसार में अवतीर्ण होते हैं। भक्ति के क्षेत्र में रामानंद ने ऊँच-नीच का भेदभाव मिटाने पर विशेष बल दिया। राम के सगुण और निर्गुण दो रूपों को मानने वाले दो भक्तों-कबीर और तुलसी को इन्होंने प्रभावित किया। विष्णुस्वामी के शुद्धाद्वैत मत का आधार लेकर इसी समय बल्लभाचार्य ने अपना पुष्टिमार्ग चलाया। बारहवीं से सोलहवीं सदी तक पूरे देश में पुराण सम्मत कृष्णचरित् के आधार पर कई संप्रदाय प्रतिष्ठित हुए, जिनमें सबसे ज्यादा प्रभावशाली वल्लभ का पुष्टिमार्ग था। उन्होंने शांकर मत के विरुद्ध ब्रह्म के सगुण रूप को ही वास्तविक कहा। उनके मत से यह संसार मिथ्या या

माया का प्रसार नहीं है बल्कि ब्रह्म का ही प्रसार है, अत: सत्य है। उन्होंने कृष्ण को ब्रह्म का अवतार माना और उसकी प्राप्ति के लिए भक्त का पूर्ण आत्मसमर्पण आवश्यक बतलाया। भगवान् के अनुग्रह या पुष्टि के द्वारा ही भक्ति सुलभ हो सकती है। इस संप्रदाय में उपासना के लिए गोपीजनवल्लभ, लीलापुरुषोत्तम कृष्ण का मधुर रूप स्वीकृत हुआ। इस प्रकार उत्तर भारत में विष्णु के राम और कृष्ण अवतारों की प्रतिष्ठा हुई।

यद्यपि भक्ति का स्रोत दक्षिण से आया तथापि उत्तर भारत की नई परिस्थितियों में उसने एक नया रूप भी ग्रहण किया। मुसलमानों के इस देश में बस जाने पर एक ऐसे भक्तिमार्ग की आवश्यकता थी जो हिंदू और मुसलमान दोनों को ग्राह्य हो। इसके अतिरिक्त निम्न वर्ग के लिए भी अधिक मान्य मत वही हो सकता था जो उन्हीं के वर्ग के पुरुष द्वारा प्रवर्तित हो। महाराष्ट्र के संत नामदेव ने 14वीं शताब्दी में इसी प्रकार के भक्तिमत का सामान्य जनता में प्रचार किया जिसमें भगवान् के सगुण और निर्गुण दोनों रूप गृहीत थे। कबीर के संतमत के ये पूर्वपुरुष हैं। दूसरी ओर सूफी कवियों ने हिंदुओं की लोककथाओं का आधार लेकर ईश्वर के प्रेममय रूप का प्रचार किया।

इस प्रकार इन विभिन्न मतों का आधार लेकर हिंदी में निर्गुण और सगुण के नाम से भक्तिकाव्य की दो शाखाएँ साथ-साथ चलीं। निर्गुणमत के दो उपविभाग हुए-ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी। पहले के प्रतिनिधि कबीर और दूसरे के जायसी हैं। सगुणमत भी दो उपधाराओं में प्रवाहित हुआ-रामभक्ति और कृष्णभक्ति। पहले के प्रतिनिधि तुलसी हैं और दूसरे के सूरदास।

भक्तिकाव्य की इन विभिन्न प्रणलियों की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हैं, पर कुछ आधारभूत बातों का सन्निवेश सब में है। प्रेम की सामान्य भूमिका सभी ने स्वीकार की। भक्तिभाव के स्तर पर मनुष्यमात्र की समानता सबको मान्य है। प्रेम और करुणा से युक्त अवतार की कल्पना तो सगुण भक्तों का आधार ही है पर निर्गुणोपासक कबीर भी अपने राम को प्रिय, पिता और स्वामी आदि के रूप में स्मरण करते हैं। ज्ञान की तुलना में सभी भक्तों ने भक्तिभाव को गौरव दिया है। सभी भक्त कवियों ने लोकभाषा का माध्यम स्वीकार किया है।

ज्ञानश्रयी शाखा के प्रमुख कवि कबीर पर तात्कालिक विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों और दार्शनिक मतों का सम्मिलित प्रभाव है। उनकी रचनाओं में धर्मसुधारक और समाजसुधारक का रूप विशेष प्रखर है। उन्होंने आचरण की

शुद्धता पर बल दिया। बाह्याडंबर, रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर उन्होंने तीव्र कशाघात किया। मनुष्य की क्षमता का उद्‌घोष कर उन्होंने निम्नश्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव जगाया। इस शाखा के अन्य कवि रैदास, दादू हैं।

अपनी व्यक्तिगत धार्मिक अनुभूति और सामाजिक आलोचना द्वारा कबीर आदि संतों ने जनता को विचार के स्तर पर प्रभावित किया था। सूफी संतों ने अपने प्रेमाख्यानों द्वारा लोकमानस को भावना के स्तर पर प्रभावित करने का प्रयत्न किया। ज्ञानमार्गी संत कवियों की वाणी मुक्तकबद्ध है, प्रेममार्गी कवियों की प्रेमभावना लोकप्रचलित आख्यानों का आधार लेकर प्रबंधकाव्य के रूप में ख्यायित हुई है। सूफी ईश्वर को अनंत प्रेम और सौंदर्य का भंडार मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर को जीव प्रेम के मार्ग से ही उपलब्ध कर सकता है। साधना के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को वह गुरू या पीर की सहायता से साहसपूर्वक पार करके अपने परमप्रिय का साक्षात्कार करता है। सूफियों ने चाहे अपने मत के प्रचार के लिए अपने कथाकाव्य की रचना की हो पर साहित्यिक दृष्टि से उनका मूल्य इसलिए है कि उसमें प्रेम और उससे प्रेरित अन्य संवेगों की व्यंजना सहजबोध्य लौकिक भूमि पर हुई है। उनके द्वारा व्यंजित प्रेम ईश्वरोन्मुख है पर सामान्यत: यह प्रेम लौकिक भूमि पर ही संक्रमण करता है। परमप्रिय के सौंदर्य, प्रेमक्रीड़ा और प्रेमी के विरहोद्वेग आदि का वर्णन उन्होंने इतनी तन्मयता से किया है और उनके काव्य का मानवीय आधार इतना पुष्ट है कि आध्यात्मिक प्रतीकों और रूपकों के बावजूद उनकी रचनाएँ प्रेमसमर्पित कथाकाव्य की श्रेष्ठ कृतियाँ बन गई हैं। उनके काव्य का पूरा वातावरण लोकजीवन का और गार्हस्थिक है। प्रेमाख्यानकों की शैली फारसी के मसनवी काव्य जैसी है।

इस धारा के सर्वप्रमुख कवि जायसी हैं जिनका 'पदमावत' अपनी मार्मिक प्रेमव्यंजना, कथारस और सहज कलाविन्यास के कारण विशेष प्रशंसित हुआ है। इनकी अन्य रचनाओं में 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' आदि हैं, जिनमें सूफी संप्रदायसंगत बातें हैं। इस धारा के अन्य कवि हैं कुतबन, मंझन, उसमान, शेख, नबी और नूरमुहम्मद आदि।

ज्ञानमार्गी शाखा के कवियों में विचार की प्रधानता है तो सूफियों की रचनाओं में प्रेम का एकांतिक रूप व्यक्त हुआ है। सगुण धारा के कवियों ने विचारात्मक शुष्कता और प्रेम की एकांगिता दूरकर जीवन के सहज उल्लासमय और व्यापक रूप की प्रतिष्ठा की। कृष्णभक्ति शाखा के कवियों ने आनंदस्वरूप लीलापुरुषोत्तम कृष्ण के मधुर रूप की प्रतिष्ठा कर जीवन के प्रति गहन राग को

स्फूर्त किया। इन कवियों में सूरसागर के रचयिता महाकवि सूरदास श्रेष्ठतम हैं जिन्होंने कृष्ण के मधुर व्यक्तित्व का अनेक मार्मिक रूपों में साक्षात्कार किया। ये प्रेम और सौंदर्य के निसर्गसिद्ध गायक हैं। कृष्ण के बालरूप की जैसी विमोहक, सजीव और बहुविध कल्पना इन्होंने की है वह अपना सानी नहीं रखती। कृष्ण और गोपियों के स्वच्छंद प्रेमप्रसंगों द्वारा सूर ने मानवीय राग का बड़ा ही निश्छल और सहज रूप उद्घाटित किया है। यह प्रेम अपने सहज परिवेश में सहयोगी भाववृत्तियों से संपृक्त होकर विशेष अर्थवान् हो गया है। कृष्ण के प्रति उनका संबंध मुख्यत: सख्यभाव का है। आराध्य के प्रति उनका सहज समर्पण भावना की गहरी से गहरी भूमिकाओं को स्पर्श करनेवाला है। सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। वल्लभ के पुत्र बिट्ठलनाथ ने कृष्णलीला गान के लिए अष्टछाप के नाम से आठ कवियों का निर्वाचन किया था। सूरदास इस मंडल के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। अन्य विशिष्ट कवि नंददास और परमानंददास हैं। नंददास की कलाचेतना अपेक्षाकृत विशेष मुखर है।

मध्ययुग में कृष्णभक्ति का व्यापक प्रचार हुआ और वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के अतिरिक्त अन्य भी कई संप्रदाय स्थापित हुए, जिन्होंने कृष्णकाव्य को प्रभावित किया। हितहरिवंश (राधावल्लभी संप्र.), हरिदास (टट्टी संप्र.), गदाधर भट्ट और सूरदास मदनमोहन (गौड़ीय संप्र.) आदि अनेक कवियों ने विभिन्न मतों के अनुसार कृष्णप्रेम की मार्मिक कल्पनाएँ कीं। मीरा की भक्ति दांपत्यभाव की थी जो अपने स्वत:स्फूर्त कोमल और करुण प्रेमसंगीत से आंदोतिल करती हैं। नरोत्तमदास, रसखान, सेनापति आदि इस धारा के अन्य अनेक प्रतिभाशाली कवि हुए जिन्होंने हिंदी काव्य को समृद्ध किया। यह सारा कृष्णकाव्य मुक्तक या कथाश्रित मुक्तक है। संगीतात्मकता इसका एक विशिष्ट गुण है।

कृष्णकाव्य ने भगवान् के मधुर रूप का उद्घाटन किया पर उसमें जीवन की अनेकरूपता नहीं थी, जीवन की विविधता और विस्तार की मार्मिक योजना रामकाव्य में हुई। कृष्णभक्तिकाव्य में जीवन के माधुर्य पक्ष का स्फूर्तिप्रद संगीत था, रामकाव्य में जीवन का नीतिपक्ष और समाजबोध अधिक मुखरित हुआ। एक ने स्वच्छंद रागतत्त्व को महत्त्व दिया तो दूसरे ने मर्यादित लोकचेतना पर विशेष बल दिया। एक ने भगवान की लोकरंजनकारी सौंदर्यप्रतिमा का संगठन किया तो दूसरे ने उसके शक्ति, शील और सौंदर्यमय लोकमंगलकारी रूप को प्रकाशित किया। रामकाव्य का सर्वोत्कृष्ट वैभव 'रामचरितमानस' के रचयिता तुलसीदास

के काव्य में प्रकट हुआ जो विद्याविद् ग्रियर्सन की दृष्टि में बुद्धदेव के बाद के सबसे बड़े जननायक थे। पर काव्य की दृष्टि से तुलसी का महत्त्व भगवान् के एक ऐसे रूप की परिकल्पना में है, जो मानवीय सामर्थ्य और औदात्य की उच्चतम भूमि पर अधिष्ठित है। तुलसी के काव्य की एक बड़ी विशेषता उनकी बहुमुखी समन्वय भावना है, जो धर्म, समाज और साहित्य सभी क्षेत्रों में सक्रिय है। उनका काव्य लोकोन्मुख है। उसमें जीवन की विस्तीर्णता के साथ गहराई भी है। उनका महाकाव्य रामचरितमानस राम के संपूर्ण जीवन के माध्यम से व्यक्ति और लोकजीवन के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन करता है। उसमें भगवान् राम के लोकमंगलकारी रूप की प्रतिष्ठा है। उनका साहित्य सामाजिक और वैयक्तिक कर्तव्य के उच्च आदर्शों में आस्था दृढ़ करने वाला है। तुलसी की 'विनयपत्रिका' में आराध्य के प्रति, जो कवि के आदर्शों का सजीव प्रतिरूप है, उनका निरंतर और निश्छल समर्पणभाव, काव्यात्मक आत्माभिव्यक्ति का उत्कृष्ट दृष्टांत है। काव्याभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों पर उनका समान अधिकार है। अपने समय में प्रचलित सभी काव्यशैलियों का उन्होंने सफल प्रयोग किया। प्रबंध और मुक्तक की साहित्यिक शैलियों के अतिरिक्त लोकप्रचलित अवधी और ब्रजभाषा दोनों के व्यवहार में वे समान रूप से समर्थ हैं। तुलसी के अतिरिक्त रामकाव्य के अन्य रचयिताओं में अग्रदास, नाभादास, प्राणचंद चौहान और हृदयराम आदि उल्लेख्य हैं।

आज की दृष्टि से इस संपूर्ण भक्तिकाव्य का महत्त्व उसकी धार्मिकता से अधिक लोकजीवनगत मानवीय अनुभूतियों और भावों के कारण है। इसी विचार से भक्तिकाल को हिंदी काव्य का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

कृष्णाश्रयी शाखा

इस गुण की इस शाखा का सर्वाधिक प्रचार हुआ है। विभिन्न संप्रदायों के अंतर्गत उच्च कोटि के कवि हुए हैं। इनमें वल्लभाचार्य के पुष्टि-संप्रदाय के अंतर्गत अष्टछाप के सूरदास कुम्भनदास रसखान जैसे महान कवि हुए हैं। वात्सल्य एवं शृंगार के सर्वोत्तम भक्त-कवि सूरदास के पदों का परवर्ती हिंदी साहित्य पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। इस शाखा के कवियों ने प्रायः मुक्तक काव्य ही लिखा है। भगवान श्रीकृष्ण का बाल एवं किशोर रूप ही इन कवियों को आकर्षित कर पाया है इसलिए इनके काव्यों में श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य का ही प्राधान्य रहा है। प्रायः सब कवि गायक थे इसलिए कविता और

संगीत का अद्‌भुत सुंदर समन्वय इन कवियों की रचनाओं में मिलता है। गीति-काव्य की जो परंपरा जयदेव और विद्यापति द्वारा पल्लवित हुई थी उसका चरम-विकास इन कवियों द्वारा हुआ है। नर-नारी की साधारण प्रेम-लीलाओं को राधा-कृष्ण की अलौकिक प्रेमलीला द्वारा व्यंजित करके उन्होंने जन-मानस को रसाप्लावित कर दिया। आनंद की एक लहर देश भर में दौड गई। इस शाखा के प्रमुख कवि थे सूरदास, नंददास, मीरा बाई, हितहरिवंश, हरिदास, रसखान, नरोत्तमदास वगैरह। रहीम भी इसी समय हुए।

कृष्ण-काव्य-धारा की विशेषताएँ

कृष्ण-काव्य-धारा के मुख्य प्रवर्तक हैं-श्री वल्लभाचार्य। उन्होंने निम्बार्क, मध्व और विष्णुस्वामी के आदर्शों को सामने रखकर श्रीकृष्ण का प्रचार किया। श्री वल्लभाचार्य द्वारा प्रचारित पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण-भक्ति-साहित्य की रचना की। वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग का प्रचार-प्रसार किया। जिसका अर्थ है-भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति से उनकी कृपा और अनुग्रह की प्राप्ति करना।

कृष्ण-काव्य-धारा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. श्रीकृष्ण-साहित्य का मुख्य विषय कृष्ण की लीलाओं का गान करना है। वल्लभाचार्य के सिद्धांतो से प्रभावित होकर इस शाखा के कवियों ने कृष्ण की बाल-लीलाओं का ही अधिक वर्णन किया है। सूरदास इसमें प्रमुख हैं।
2. इस शाखा में वात्सल्य एवं माधुर्य भाव का ही प्राधान्य है। वात्सल्य भाव के अंतर्गत कृष्ण की बाल-लीलाओं, चेष्टाओं तथा माँ यशोदा के हृदय की झाँकी मिलती है। माधुर्य भाव के अंतर्गत गोपी-लीला मुख्य है। सूरदास के बारे में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है-वात्सल्य के क्षेत्र में जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया, इतना किसी ओर कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का तो वे कोना-कोना झाँक आये।
3. इस धारा के कवियों ने भगवान कृष्ण की उपासना माधुर्य एवं सख्य भाव से की है। इसीलिए इसमें मर्यादा का चित्रण नहीं मिलता।
4. श्रीकृष्ण काव्य में मुक्त रचनाएँ ही अधिक पाई जाती हैं। काव्य-रचना के अधिकांशत: उन्होंने पद ही चुने हैं।

5. इस काव्य में गीति-काव्य की मनोहारिणी छटा है। इसका कारण है-कृष्ण-काव्य की संगीतात्मक्ता। कृष्ण-काव्य में राग-रागिनियों का सुंदर उपयोग हुआ है
6. श्रीकृष्ण काव्य में विषय की एकता होने के कारण भावों में अधिकतर एकरूपता पाई जाती है।
7. श्रीकृष्ण को भगवान मानकर पदों की विनयावली द्वारा पूजा जाने के कारण इसमें भावुकता की तीव्रता अधिक पाई जाती है।
8. इस काव्य-धारा में उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा अलंकारों का प्रयोग किया गया है।
9. कृष्ण-काव्य-धारा की भाषा ब्रज है। ब्रजभाषा की कोमलकांत पदावली का प्रयोग इसमें हुआ है। यह मधुर और सरस है।
10. इस काव्य में रसमयी उक्तियों के लिए तथा साकार ईश्वर के प्रतिपादन के लिए भ्रमरगीत लिखने की परंपरा प्राप्त होती है।
11. श्रीकृष्ण-काव्य स्वतंत्र प्रेम-प्रधान काव्य है। इन्होंने प्रेमलक्षणा भक्ति को अपनाया है। इसलिए इसमें मर्यादा की अवहेलना की गई है।
12. कृष्ण-काव्य व्यंग्यात्मक है। इसमें उपालंभ की प्रधानता है। सूर का भ्रमरगीत इसका सुंदर उदाहरण है।
13. श्रीकृष्ण काव्य में लोक-जीवन के प्रति उपेक्षा की भावना पाई जाती है। इसका मुख्य कारण है-कृष्ण के लोकरंजक रूप की प्रधानता।
14. श्री कृष्ण-काव्य-धारा में ज्ञान और कर्म के स्थान पर भक्ति को प्रधानता दी गई है। इसमें आत्म-चिंतन की अपेक्षा आत्म-समर्पण का महत्त्व है।
15. प्रकृति-वर्णन भी इस धारा में मिलता है। ग्राम्य-प्रकृति के सुंदर चित्र इसमें हैं।

रामाश्रयी शाखा

कृष्णभक्ति शाखा के अंतर्गत लीला-पुरुषोत्तम का गान रहा तो रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि तुलसीदास ने मर्यादा-पुरुषोत्तम का ध्यान करना चाहा। इसलिए आपने रामचंद्र को आराध्य माना और 'रामचरित मानस' द्वारा राम-कथा को घर-घर में पहुँचा दिया। तुलसीदास हिंदी साहित्य के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। समन्वयवादी तुलसीदास में लोकनायक के सब गुण मौजूद थे। आपकी पावन और मधुर वाणी ने जनता के तमाम स्तरों को राममय कर दिया। उस समय

प्रचलित तमाम भाषाओं और छंदों में आपने रामकथा लिख दी। जन-समाज के उत्थान में आपने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस शाखा में अन्य कोई कवि तुलसीदास के समान उल्लेखनीय नहीं है तथापि अग्रदास, नाभादास तथा प्राण चन्द चौहान भी इस श्रेणी में आते हैं।

रामभक्ति शाखा की प्रवृत्तियाँ रामकाव्य धारा का प्रवर्तन वैष्णव संप्रदाय के स्वामी रामानंद से स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि रामकाव्य का आधार संस्कृत साहित्य में उपलब्ध राम-काव्य और नाटक रहें हैं। इस काव्य धारा के अवलोकन से इसकी निम्न विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं –

राम का स्वरूप–रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में श्री रामानंद के अनुयायी सभी रामभक्त कवि विष्णु के अवतार दशरथ-पुत्र राम के उपासक हैं। अवतारवाद में विश्वास है। उनके राम परब्रह्म स्वरूप हैं। उनमें शील, शक्ति और सौंदर्य का समन्वय है। सौंदर्य में वे त्रिभुवन को लजावन हारे हैं। शक्ति से वे दुष्टों का दमन और भक्तों की रक्षा करते हैं तथा गुणों से संसार को आचार की शिक्षा देते हैं। वे मर्यादापुरुषोत्तम और लोकरक्षक हैं।

भक्ति का स्वरूप–इनकी भक्ति में सेवक-सेव्य भाव है। वे दास्य भाव से राम की आराधना करते हैं। वे स्वयं को क्षुद्रातिक्षुद्र तथा भगवान को महान बतलाते हैं। तुलसीदास ने लिखा है–सेवक-सेव्य भाव बिन भव न तरिय उरगारि। राम-काव्य में ज्ञान, कर्म और भक्ति की पृथक-पृथक महत्ता स्पष्ट करते हुए भक्ति को उत्कृष्ट बताया गया है। तुलसी दास ने भक्ति और ज्ञान में अभेद माना है–भगतहिं ज्ञानहिं नहिं कुछ भेदा। यद्यपि वे ज्ञान को कठिन मार्ग तथा भक्ति को सरल और सहज मार्ग स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त तुलसी की भक्ति का रूप वैधी रहा है, वह वेदशास्त्र की मर्यादा के अनुकूल है।

लोक-मंगल की भावना–रामभक्ति साहित्य में राम के लोक-रक्षक रूप की स्थापना हुई है। तुलसी के राम मर्यादापुरुषोत्तम तथा आदर्शों के संस्थापक हैं। इस काव्य धारा में आदर्श पात्रों की सर्जना हुई है। राम आदर्श पुत्र और आदर्श राजा हैं, सीता आदर्श पत्नी हैं तो भरत और लक्ष्मण आदर्श भाई हैं। कौशल्या आदर्श माता हैं, हनुमान आदर्श सेवक हैं। इस प्रकार रामचरितमानस में तुलसी ने आदर्श गृहस्थ, आदर्श समाज और आदर्श राज्य की कल्पना की है। आदर्श की प्रतिष्ठा से ही तुलसी लोकनायक कवि बन गए हैं और उनका काव्य लोकमंगल की भावना से ओतप्रोत है।

समन्वय भावना–तुलसी का मानस समन्वय की विराट चेष्टा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में-उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय रामचरितमानस में शुरु से आखिर तक समन्वय का काव्य है। हम कह सकते हैं कि तुलसी आदि रामभक्त कवियों ने समाज, भक्ति और साहित्य सभी क्षेत्रों में समन्वयवाद का प्रचार किया है। राम भक्त कवियों की भारतीय संस्कृति में पूर्ण आस्था रही। पौराणिकता इनका आधार है और वर्णाश्रम व्यवस्था के पोषक हैं। लोकहित के साथ-साथ इनकी भक्ति स्वांत: सुखाय थी। सामाजिक तत्त्व की प्रधानता रही।

काव्य शैलियाँ–रामकाव्य में काव्य की प्राय: सभी शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। तुलसीदास ने अपने युग की प्राय: सभी काव्य-शैलियों को अपनाया है। वीरगाथाकाल की छप्पय पद्धति, विद्यापति और सूर की गीतिपद्धति, गंग आदि भाट कवियों की कवित्त-सवैया पद्धति, जायसी की दोहा पद्धति, सभी का सफलतापूर्वक प्रयोग इनकी रचनाओं में मिलता है। रामायण महानाटक (प्राणचंद चौहान) और हनुमननाटक (ह्रदयराम) में संवाद पद्धति और केशव की रामचंद्रिका में रीति-पद्धति का अनुसरण है।

रस–रामकाव्य में नव रसों का प्रयोग है। राम का जीवन इतना विस्तृत व विविध है कि उसमें प्राय: सभी रसों की अभिव्यक्ति सहज ही हो जाती है। तुलसी के मानस एवं केशव की रामचंद्रिका में सभी रस देखे जा सकते हैं। रामभक्ति के रसिक संप्रदाय के काव्य में श्रृंगार रस को प्रमुखता मिली है। मुख्य रस यद्यपि शांत रस ही रहा।

भाषा–रामकाव्य में मुख्यत: अवधी भाषा प्रयुक्त हुई है। किंतु ब्रजभाषा भी इस काव्य का श्रृंगार बनी है। इन दोनों भाषाओं के प्रवाह में अन्य भाषाओं के भी शब्द आ गए हैं। बुंदेली, भोजपुरी, फारसी तथा अरबी शब्दों के प्रयोग यत्र-तत्र मिलते हैं। रामचरितमानस की अवधी प्रेमकाव्य की अवधी भाषा की अपेक्षा अधिक साहित्यिक है।

छंद–रामकाव्य की रचना अधिकतर दोहा-चौपाई में हुई है। दोहा चौपाई प्रबंधात्मक काव्यों के लिए उत्कृष्ट छंद हैं। इसके अतिरिक्त कुण्डलिया, छप्पय, कवित्त, सोरठा, तोमर, त्रिभंगी आदि छंदों का प्रयोग हुआ है।

अलंकार– रामभक्त कवि विद्वान पंडित हैं। इन्होंने अलंकारों की उपेक्षा नहीं की। तुलसी के काव्य में अलंकारों का सहज और स्वाभाविक प्रयोग मिलता है। उत्प्रेक्षा, रूपक और उपमा का प्रयोग मानस में अधिक है।

ज्ञानाश्रयी मार्गी

इस शाखा के भक्त-कवि निर्गुणवादी थे और राम की उपासना करते थे। वे गुरू को बहुत सम्मान देते थे तथा जाति-पाँति के भेदों को अस्वीकार करते थे। वैयक्तिक साधना पर वे बल देते थे। मिथ्या आडंबरों और रूढ़ियों का वे विरोध करते थे। लगभग सब संत अपढ़ थे परंतु अनुभव की दृष्टि से समृद्ध थे। प्राय: सब सत्संगी थे और उनकी भाषा में कई बोलियों का मिश्रण पाया जाता है इसलिए इस भाषा को 'सधुक्कड़ी' कहा गया है। साधारण जनता पर इन संतों की वाणी का जबरदस्त प्रभाव पड़ा है। इन संतों में प्रमुख कबीरदास थे। अन्य मुख्य संत-कवियों के नाम हैं-नानक, रैदास, दादूदयाल, सुंदरदास तथा मलूकदास।

प्रोफेसर महावीर सरन जैन ने निर्गुण भक्ति के स्वरूप के बारे में प्रश्न उठाए हैं तथा प्रतिपादित किया है कि संतों की निर्गुण भक्ति का अपना स्वरूप है जिसको वेदांत दर्शन के सन्दर्भ में व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। उनके शब्द हैं–

भक्ति या उपासना के लिए गुणों की सत्यता आवश्यक है। ब्रह्म के सगुण स्वरूप को आधार बनाकर तो भक्ति/उपासना की जा सकती है किन्तु जो निर्गुण एवं निराकार है उसकी भक्ति किस प्रकार सम्भव है ? निर्गुण के गुणों का आख्यान किस प्रकार किया जा सकता है ? गुणातीत में गुणों का प्रवाह किस प्रकार माना जा सकता है ? जो निरालम्ब है, उसको आलम्बन किस प्रकार बनाया जा सकता है। जो अरूप है, उसके रूप की कल्पना किस प्रकार सम्भव है। जो रागातीत है, उसके प्रति रागों का अर्पण किस प्रकार किया जा सकता है? रूपातीत से मिलने की उत्कंठा का क्या औचित्य हो सकता है। जो नाम से भी अतीत है, उसके नाम का जप किस प्रकार किया जा सकता है।

शास्त्रीय दृष्टि से उपर्युक्त सभी प्रश्न 'निर्गुण-भक्ति' के स्वरूप को ताल ठोंककर चुनौती देते हुए प्रतीत होते हैं। कबीर आदि संतों की दार्शनिक विवेचना करते समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह मान्यता स्थापित की है कि उन्होंने निराकार ईश्वर के लिए भारतीय वेदांत का पल्ला पकड़ा है। इस सम्बन्ध में जब हम शांकर अद्वैतवाद एवं संतों की निर्गुण भक्ति के तुलनात्मक पक्षों पर विचार

करते हैं तो उपर्युक्त मान्यता की सीमायें स्पष्ट हो जाती हैं–

(क) शांकर अद्वैतवाद में भक्ति को साधन के रूप में स्वीकार किया गया है, किन्तु उसे साध्य नहीं माना गया है। संतों ने (सूफियों ने भी) भक्ति को साध्य माना है।

(ख) शांकर अद्वैतवाद में मुक्ति के प्रत्यक्ष साधन के रूप में 'ज्ञान' को ग्रहण किया गया है। वहाँ मुक्ति के लिए भक्ति का ग्रहण अपरिहार्य नहीं है। वहाँ भक्ति के महत्व की सीमा प्रतिपादित है। वहाँ भक्ति का महत्व केवल इस दृष्टि से है कि वह अन्त:करण के मालिन्य का प्रक्षालन करने में समर्थ सिद्ध होती है। भक्ति आत्म-साक्षात्कार नहीं करा सकती, वह केवल आत्म साक्षात्कार के लिए उचित भूमिका का निर्माण कर सकती है। संतों ने अपना चरम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार या भगवद्-दर्शन माना है तथा भक्ति के ग्रहण को अपरिहार्य रूप में स्वीकार किया है क्योंकि संतों की दृष्टि में भक्ति ही आत्म-साक्षात्कार या भगवद्दर्शन कराती है।

प्रेमाश्रयी शाखा

मुसलमान सूफी कवियों की इस समय की काव्य-धारा को प्रेममार्गी माना गया है क्योंकि प्रेम से ईश्वर प्राप्त होते हैं ऐसी उनकी मान्यता थी। ईश्वर की तरह प्रेम भी सर्वव्यापी तत्त्व है और ईश्वर का जीव के साथ प्रेम का ही संबंध हो सकता है, यह उनकी रचनाओं का मूल तत्त्व है। उन्होंने प्रेमगाथाएं लिखी हैं। ये प्रेमगाथाएं फारसी की मसनवियों की शैली पर रची गई हैं। इन गाथाओं की भाषा अवधी है और इनमें दोहा-चौपाई छंदों का प्रयोग हुआ है। मुसलमान होते हुए भी उन्होंने हिंदू-जीवन से संबंधित कथाएं लिखी हैं। खंडन-मंडन में न पड़कर इन फकीर कवियों ने भौतिक प्रेम के माध्यम से ईश्वरीय प्रेम का वर्णन किया है। ईश्वर को माशूक माना गया है और प्राय: प्रत्येक गाथा में कोई राजकुमार किसी राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए नानाविध कष्टों का सामना करता है, विविध कसौटियों से पार होता है और तब जाकर माशूक को प्राप्त कर सकता है। इन कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी प्रमुख हैं। आपका 'पद्मावत' महाकाव्य इस शैली की सर्वश्रेष्ठ रचना है। अन्य कवियों में प्रमुख हैं-मंझन, कुतुबन और उसमान।

2

भक्ति– उद्‌भव एवं विकास

गुजरात के स्वामी माधवाचार्य (संवत् 1254–1333) ने द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय (ब्राह्म सम्प्रदाय) चलाया जिसकी ओर भी लोगों का झुकाव हुआ। इसके साथ ही द्वैताद्वैतवाद (सनकादि सम्प्रदाय) के संस्थापक निम्बार्काचार्य ने विष्णु के दूसरे अवतार कृष्ण की प्रतिष्ठा विष्णु के स्थान पर की तथा लक्ष्मी के स्थान पर राधा को रख कर देश के पूर्व भाग में प्रचलित कृष्ण–राधा (जयदेव, विद्यापति) की प्रेम कथाओं को नवीन रूप एवं उत्साह प्रदान किया। वल्लभाचार्य जी ने भी कृष्ण भक्ति के प्रसार का कार्य किया। जगत्प्रसिद्ध सूरदास भी इस सम्प्रदाय की प्रसिद्धि के मुख्य कारण कहे जा सकते हैं। सूरदास ने वल्लभाचार्य जी से दीक्षा लेकर कृष्ण की प्रेमलीलाओं एवं बाल क्रीड़ाओं को भक्ति के रंग में रंग कर प्रस्तुत किया। माधुर्यभाव की इन लीलाओं ने जनता को बहुत रसमग्न किया। इस तरह दो मुख्य सम्प्रदाय सगुण भक्ति के अन्तर्गत अपने पूरे उत्कर्ष पर इस काल में विद्यमान थे–रामभक्ति शाखा, कृष्णभक्ति शाखा।

इसके अतिरिक्त भी दो शाखाएँ प्रचलित हुई–प्रेममार्ग (सूफी) तथा निर्गुणमार्ग शाखा।

सगुण धारा के इस विकास क्रम के समानांतर ही बाहर से आए हुए मुसलमान सूफी संत भी अपने विचारों को सामान्य जनता में फैला रहे थे। मुसलमानों के इस लम्बे प्रवास के कारण भारतीय तथा मुस्लिम संस्कृति का

आदान-प्रदान होना स्वाभाविक था। फिर इन सूफी संतों ने भी अपने विचारों को जनसाधारण में व्याप्त करने की, अपने मतों को भारतीय आख्यानों में, भारतीय परिवेश में, यहीं की भाषा-शैली लेकर प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया। इनके मतों में कट्टरता का कहीं भी आभास नहीं था। इनका मुख्य सिद्धान्त प्रेम तत्त्व था। यद्यपि प्रेम के माध्यम से ईश्वर को पाने के लिए किए जाने वाले प्रयास-(विधि) में कुछ अन्तर अवश्य था तथापि इनके प्रेम तत्त्व के प्रतिपादन एवं प्रसार शैली ने लोगों को आकर्षित किया। इन्होंने एकेश्वरवाद का प्रतिपादन भी किया जिसे कुछ लोगों ने अद्वैतवाद ही मान लिया, जो कि उचित नहीं है। हजरत निजामुद्दीन चिश्ती, सलीम चिश्ती आदि अनेक संतों ने हिन्दू-मुसलमान सबका आदर प्राप्त किया। इस सूफी मत में भी चार धाराएँ मुख्यत: चलीं-

1. चिश्ती सम्प्रदाय
2. कादरी सम्प्रदाय
3. सुहरावर्दी सम्प्रदाय
4. नक्शबंदिया सम्प्रदाय।

जायसी, कुतुबन, मंझन आदि प्रसिद्ध (साहित्यकार) कवियों ने हिन्दी साहित्य को अमूल्य साहित्य रत्न भेंट किए। निर्गुणज्ञानाश्रयी शाखा पर भी इनका प्रभाव पड़ा तथा हिन्दू-मुसलमानों के भेद को मिटाने की बातें कही जाने लगीं। आचार्य शुक्ल ने भी इन्हें 'हिन्दू और मुसलमान हृदय को आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने वाला कहा।

रामानन्द जी उत्तर भारत में रामभक्ति को लेकर आए थे। उनके सिद्धान्तों में इस भक्ति का स्वरूप दो प्रकार का था-राम का निर्गुण रूपय, राम का अवतारी रूप। ये दोनों मत एक साथ ही थे। निर्गुण रूप में राम का नाम तो होता पर उसे 'दशरथ-सुत' की कथा से सम्बद्ध नहीं किया जाता। रामानन्द ने देखा कि भगवान की शरण में आने के उपरान्त छूआ-छूत, जाँत-पाँत आदि का कोई बन्धन नहीं रह जाता अत: संस्कृत के पण्डित और उच्च ब्राह्मण कुलोद्‌भूत होने के पश्चात भी उन्होंने देश-भाषा में कविता लिखी और सबको (ब्राह्मण से लेकर निम्नजाति वालों तक को) राम-नाम का उपदेश दिया। कबीर इन्हीं के शिष्य थे। कबीर, रैदास, धन्ना, सेना, पीपा आदि इनके शिष्यों ने इस मत को प्रसिद्ध किया। रामनाम के मंत्र को लेकर चलने वाले अक्खड़-फक्कड़ संतों ने भेद-भाव भुला कर सबको प्रेमपूर्वक गले लगाने की बात कही। वैदिक कर्मकाण्ड के द्वारा फैले हुए आडंबरों एवं बाह्य विधि-विधानों के त्याग पर बल

देते हुए राम नाम का प्रेम, श्रद्धा से स्मरण करने की सरल पद्धति और सहज समाधि का प्रसार किया। कबीर में तीन प्रमुख धाराएँ समाहित दिखाई देती हैं–

1. उत्तरपूर्व के नाथ-पंथ और सहजयान का मिश्रित रूप
2. पश्चिम का सूफी मतवाद और
3. दक्षिण का वेदान्तभावित वैष्णवधर्म

हठयोग का कुछ प्रभाव इन पर अवश्य है, परन्तु मुख्यत: प्रेम तत्त्व पर ही बल दिया गया है। सामाजिक सुधार के क्षेत्र में इन संतों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इन संतों के साहित्य में हमें तत्कालीन युग की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक समस्त स्थितियों के दर्शन हो जाते हैं। धार्मिक दृष्टि से भी इनका योग बहुत है। सहज प्रेम की भाषा पर बल देने के कारण लोगों का इन पर भी बहुत झुकाव रहा। कबीर की मृत्यु के कुछ समय बाद इसमें भी सम्प्रदाय की स्थापना हो गई। अन्य शाखाओं के समान इसका महत्त्व भी भक्तिकाल को पूर्ण बनाने में है।

ये चारों शाखाएँ भक्तिकाल या मध्यकाल के पूर्व भाग में अपने उत्कर्ष में थीं। इन चारों ही शाखाओं ने हिन्दी साहित्य को बड़े-बड़े व्यक्तित्व प्रदान किए जैसे-सूर, तुलसी, कबीर आदि। अपने भक्तिभाव की चरम उत्कृष्टता के लिए भी ये जनता के मन-मानस पर आधिपत्य कर सके। आज भी ये श्रद्धा एवं आदर से देखे जाते हैं। यद्यपि कालान्तर में इन सम्प्रदायों में भी अनैतिकता के तत्त्वों के प्रवेश के कारण शुद्धता नहीं रह गई थी तथा इनका पतन भी धीरे-धीरे हो गया था तथापि जो अद्‌भुत मणियाँ इस काल में प्राप्त हुईं, वे किसी भी अन्य काल में प्राप्त नहीं हो सकीं, यह निस्संदेह कहा जा सकता है। भक्तिकाल में हर प्रकार से कला समृद्ध हुई, नवीन वातावरण का जन्म हुआ, जन-जन में भक्ति, प्रेम और श्रद्धा के स्रोत फूट पड़े, ऐसा काल वस्तुत: साहित्येतिहास का "स्वर्णकाल" कहलाने योग्य है।

सम्प्रदायों से मुक्त रूप में भी भक्ति का प्रचार था। मीरा, रसखान, रहीम का नाम उतनी ही श्रद्धा से लिया जाता है जितना कि किसी सम्प्रदायबद्ध संत कवि का। इस तरह कहा जा सकता है कि जनता में सम्प्रदाय से भी अधिक शुद्ध भक्ति-भाव की महत्ता थी। ऐकान्तिक भक्ति ने समष्टिगत रूप धारण किया और जन-जन के हृदय को आप्लावित कर दिया।

तुलसी की मृत्य (1680 ई.) के कुछ समय बाद ही रीतिकाल के आगमन के चिह्न दिखाई देने लगे थे। राम के मर्यादावादी रूप का सामान्यीकरण करके उसमें भी लौकिक लीलाओं का समावेश कर दिया गया। कृष्ण की प्रेम

भक्ति (मूलक) जागृत करने की लीलाओं में से कृष्ण की श्रृंगारिक लीलाओं को ग्रहण करके उसका अश्लील चित्रण होने लगा था। यह स्थिति रीतिकाल में अपने घोरतम रूप में पहुँच गई थी। इसीलिए कहा गया था "राधिका कन्हाई सुमरिन को बहानो है।" रामभक्ति का जो रूप तुलसी ने अंकित किया था, यद्यपि वह धूमिल नहीं हुआ तथापि राजाओं के आश्रय में रहने वाले कवियों ने श्रृंगारिकता के वातावरण में उसे विस्मृत कर दिया था। इस तरह धीरे-धीरे ई. 1680-90 के आस-पास भक्तिकाल समाप्त हो गया।

कालांतर में यद्यपि जनता में भक्तिभाव विद्यमान रहे तथापि न तो इस (तुलसी आदि के समान) को महान विभूति पैदा हो सकी और न कोई बहुत अधिक लोकप्रिय ग्रंथ ही लिखा जा सका।

भक्ति युग का यह आन्दोलन बहुत बड़ा आन्दोलन था एवं ऐसा आन्दोलन भारत ने इससे पहले कभी नहीं देखा था। इस साहित्य ने जनता के हृदय में श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, जिजीविषा जागृत की, साहस, उल्लास, प्रेम भाव प्रदान किया, अपनी मातृभूमि, इसकी संस्कृति का विराट एवं उत्साहवर्धक चित्र प्रस्तुत किया, लोगों के हृदय में देशप्रेम भी प्रकारांतर से इसी कारण जागृत हुआ।

भक्तियुग में इस तरह मुख्यत: भक्तिपरक साहित्य की रचना हुई परन्तु यह भी पूर्णतया नहीं कहा जा सकता कि किसी अन्य प्रकार का साहित्य उस काल में था ही नहीं। यह अकबर का शासन काल था तथा उसके दरबार में अनेक कवि थे। अब्दुर्रहीम खानखाना आदि की राजप्रसस्तिपरक कुछ कविताएँ मिलती हैं। अकबर ने साहित्य की पारम्परिक धारा को भी प्रोत्साहन दिया था अत: काव्य का वह रूप भी कृपाराम की "हिततरंगिणी" बीरबल के फुटकर दोहों आदि में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त नीति परक दोहे आदि लिखे गये।

एक और महान कवि आचार्य केशव को शुक्ल जी ने भक्तिकाल के फुटकर कवियों में रखा है। यह कार्य उन्होंने केशव के रचनाकाल के आधार पर किया है। केशव की अलंकार, छंद, रस के लक्षणों-उदाहरणों को प्रस्तुत करने वाली तीन महत्त्वपूर्ण रचनाओं-कवि प्रिया, रसिक प्रिया तथा रामचन्द्रिका को भक्ति से भिन्न मान कर भी उन्हें इस युग के फुटकर कवियों में शुक्ल जी ने रखा है, परन्तु यह उचित नहीं है। केशव का आचार्यत्त्व पूरे रीतिकाल को गौरव प्रदान करता है। रीति-लक्षण-उदाहरण के निर्धारण की परम्परा भी सर्वप्रथम उन्हीं में दिखाई देती है चाहें रीतिकाल में इस निर्धारण के लिए केशव को रीतिकाल से पृथक करना अनुचित है अत: उन्हें भक्तियुग में रखना उचित नहीं है।

भक्तिकाल में ललित कलाओं का उत्कर्ष दिखाई देता है। श्रीकृष्ण-राधा की विभिन्न लीलाओं के चित्र इस काल में मिलते हैं, कोमल एवं सरस भावों को अभिव्यक्त करने वाली अनेक मूर्त्तियाँ इस काल में मिलती है। मूर्तिकला का बहुत विकास इस युग में बहुत अधिक हुआ था। वास्तुकला, चित्रकला में मुस्लिम (ईरानी) शैली का समन्वय भारतीय शैली में हुआ फलतः मेहराबें, गुम्बद आदि का प्रयोग अधिक दिखाई देने लगा। मध्यकाल में राजस्थानी शैली अधिक लोकप्रिय थी। मानवीय चित्रों के अतिरिक्त प्राकृतिक दृश्यों का अंकन, दरबारी जीवन के विविध प्रसंग भी भित्ति चित्र इस युग में प्राप्त होते हैं। 'कुतुबमीनार', 'अढ़ाई दिन का झौंपड़ा' आदि ऐतिहासिक वास्तुकला के अप्रतिम नमूने हैं।

इस तरह साहित्य के साथ ललित कलाओं का विकास भी बहुत अधिक हुआ था। संगीत के क्षेत्र में बहुत प्रगति हुई। कृष्णलीलाओं का गायन, साखी, रमैनी, पद को राग निबद्ध करने की जैसी योजना इस काल में है वैसी अन्यत्र प्राप्य नहीं है। सूर और तुलसी साहित्य में अनेक राग-रागनियों का वर्णन आता है।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि भक्ति के उद्भव एवं विकास के समय जो कुछ भी भारतीय साहित्य, भारतीय संस्कृति तथा इतिहास को प्राप्त हुआ, वह स्वयं में अद्भुत, अनुपम एवं दुर्लभ है। अंततः हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के शब्दों में कह सकते है-"समूचे भारतीय इतिहास में यह अपने 'ग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति साहित्य है। यह एक नई दुनिया है। भक्ति का यह नया इतिहास मनुष्य जीवन के एक निश्चित लक्ष्य और आदर्श को लेकर चला। यह लक्ष्य है भगवद्भक्ति, आदर्श है शुद्ध सात्विक जीवन और साधन है भगवान के निर्मल चरित्र और सरस लीलाओं का गान।"

3

भक्तिकालीन साहित्य का सामाजिक सरोकार

समाज क्या है?

लोगों के एक विशेष समूह का निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एकत्रित रहना ही समाज कहलाता है। समाज के भूमि की सीमा निश्चित नहीं है। समाज अपने व्यक्तियों के सुख-सुविधाओं एवं आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु स्वत: ही निर्मित हो जाता है। समाज मनुष्यों का वह समूह है, जो इस भू-मण्डल पर निवास करता है और पारस्परिक रागद्वेष से आबद्ध होकर भी अपनी वैयक्तिक एवं सामूहिक प्रगति के लिए प्रयास करता रहता है। विविध प्रकार से ज्ञान-विज्ञान से समृद्ध होकर अपनी भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति में संलग्न रहता है, अधिक से अधिक शक्तियों का संचय करके अपने अस्तित्त्व की रक्षा में तल्लीन रहता है। इसी के साथ विविध साधन सामग्री जुटाकर प्रकृति से संघर्ष करते हुए अपनी सत्ता को सर्वोपरि सिद्ध करने में प्रयासरत रहता है। साधारण बोल चाल में समाज शब्द का प्रयोग मनुष्य के समूह से माना जाता है। अपना अस्तित्त्व बनाए रखने के लिए मनुष्य को सामाजिक सम्बन्धों की आवश्यकता पड़ती है। पारस्परिक मेल-मिलाप के आधार पर इन्हीं सम्बन्धों को ही समाज का नाम दिया जाता है। 'समाज' शब्द 'सम्' 'उपसर्ग' और 'अज' धातु में 'धम' प्रत्यय लगाने से बनता है। 'सम्' का अर्थ सम्यक रूप से तथा 'अज' का अर्थ है जाना।''

समाज केवल मनुष्यों में नहीं, अपितु पशुओं में भी दृष्टिगोचर होता है। समाज के आवश्यक लक्षण–समानता, भिन्नता, संगठन, सहयोग और अन्योन्याश्रित आदि पशुओं में भी देखे जा सकते हैं। किन्तु समाज शब्द का अभिप्राय एक आकार प्रकार से है, जिसमें कुछ विशिष्ट लक्षण प्राप्त होते हैं–समाज अमूर्त सम्बन्धों की व्याख्या का नाम हैं। जिसे सीमित नहीं माना जा सकता। उसमें समस्त मानव सम्बन्ध और व्यवहार आ जाते हैं। समाज मनुष्यों का समूह मात्र नहीं है बल्कि उनकी परस्पर क्रियाओं तथा परस्पर सम्बन्धों में है।

समय–समय पर समाज को अनेक प्रकार से परिभाषित किया गया है। मैकावर और पेज के अनुसार–''मनुष्यों में जो चलन है, जो कार्य विधियाँ हैं। परस्परिक सहायता की जो प्रवृत्ति है शासन की जो भावना है, जो अनेक समूह व विभाग में विद्यमान है, मानव व्यवहार के संबंध में स्वतन्त्रताएँ व मर्यादाएँ हैं उनकी व्यवस्था को समाज कहते हैं।'' जहाँ परिवर्तित होती जटिल स्थितियाँ अपना ताना–बाना बनाती बिगाड़ती रहती है। मैकावर और पेज समाज के व्यवस्थित रूप के कारणों के समाज में समूह की चेतना की बात करते हैं तो विविध रूपों में परिलक्षित होती है। व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य व्यक्तियों के साथ अन्तः क्रिया करते हैं और सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करता है। विभिन्न सम्बन्धों के आधार पर एक–दूसरे के साथ व्यवहार होता है। कुछ क्रियाएं और प्रतिक्रियाए होती है। यह सब कुछ अपने–अपने नियमों के आधार पर ही होता है। इनमें से अधिकांशतः पारस्परिक अपेक्षाएं सम्मिलित है। इन सबसे मिलकर बनने वाली व्यवस्था ही समाज कहलाती है।

मानव एकाकी जन्म लेता है, समाज में रहकर ही अपना विकास कर पाता है इसलिए अरस्तू ने उसे 'सामाजिक प्राणी' कहा है। व्यक्ति और समाज परस्पर पूरक हैं। एक के बिना दूसरे की सत्ता, स्थिरता एवं प्रगति की कल्पना करना कठिन है। बहुत से व्यक्ति मिलकर एक समाज की रचना करते हैं, जो बदले में उनके अस्तित्त्व को सुखमय एवं उनके जीवनादर्श की उपलब्धि को सम्भव बनाता है। इसीलिए मानव अपने जीवन–लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए विशिष्ट प्रकार की समाज व्यवस्था का निर्माण करता है।

''शाब्दिक दृष्टि से समाज शब्द का पर्यायवाची शब्द अंग्रेजी में 'सोसायटी' है। यह लैटिन शब्द से बना है जिसका अर्थ है संगी, साथी या मित्र संस्कृत में सम्. अज्. धा्ं' से समाज शब्द की व्युत्पत्ति बताई गई, जिसका

तात्पर्य सभा, मिलन, गोष्ठी, परिषद या समिति से लिया जाता है।'' व्यक्ति के बिना समाज नहीं, समाज के बिना व्यक्ति नहीं दोनों में अटूट सम्बन्ध होता है। समाज समानता और भिन्नता दोनों के बिना नहीं रह सकता क्योंकि यह एक गतिशील और विकासमान अवस्था है। जहाँ, सामाजिक सम्बन्ध हितों उद्देश्यों रूढ़ियों, आवश्यकताओं आदि की समानता पर आधारित होते हैं वहीं, मानव समाज की क्रियाएं परस्पर आदान-प्रदान, रुचि-अभिरुचि आदि की भिन्नता पर आधारित होती है। समाज एक अमूर्त प्रत्यय है, जिसकी अमूर्तता मूर्त मानव में निहित है। समाज मानव की अभिव्यक्ति और व्यवहारों को आयाम प्रदान करता है। इसके द्वारा सम्बन्ध निर्मित करता है और यह सम्बन्ध पीढ़ी-दर-पीढ़ी व्यवहारों का निर्माण करता है।

समाज के शाब्दिक व पारिभाषिक विवेचन के आधार पर ''समाज मनुष्य के अस्तित्त्व का आधार है क्योंकि उसका जन्म विकास एवं व्यक्तित्व का निर्माण समाज में ही होता है। उसकी अनेक शारीरिक व सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी समाज के अन्तर्गत ही होती है। समाज मनुष्यों द्वारा निर्मित होता है। इस अर्थ में समाज एक ऐसा जन समूह है जिसमें एकात्म भाव है।''

रूस के महान विचारक लेनिन, वर्ग की अवधारणा को दूसरे ही ढंग से परिभाषित करते हैं। उनके विचारों को कविता भट्ट इस तरह प्रस्तुत करती हैं– ''वर्ग व्यक्तियों के बड़े-बड़े दल होते हैं, ये दल एक-दूसरे से भिन्न होते हैं जिनकी भिन्नता का आधार व्यक्ति की सामाजिक उत्पादन-पद्धति के अनुसार निर्धारित किया जाता है। समाजशास्त्रियों ने इसी दृष्टि से वर्ग का निर्णय किया है और अपने सदस्यों के प्रति समान भावना को भी अभिहित करता है।''

आधुनिक युग में वर्ग की भावना को सामाजिक-प्रक्रिया का स्वरूप प्रदान करने का श्रेय जर्मनी के महान् विचारक और चिन्तक कार्लमार्क्स को जाता है। मार्क्स के आधार पर वर्ग का विभाजन विभिन्न प्रकार के उन हिस्सों से प्रारम्भ हुआ जो वस्तुनिष्ठता के आधार पर बाँटे गए। मार्क्स ने संबंधों के इस द्वन्द्व में मुख्यत: दो वर्गों को स्वीकार किया पूँजीपति वर्ग, जिसे मार्क्स ने बुर्जुवा वर्ग कहा। यह औद्योगिक और कृषि में उत्पादन के साधनों के स्वामी और काम नहीं करने वाले धनी सम्पत्ति धारियों को लेकर गठित होता है। ये अपने उत्पादन प्रतिष्ठानों में श्रम कार्य का गठन करते हैं और सर्वहारा के शोषण के परिणामस्वरूप लाभ के रूप में अतिरिक्त उत्पादन करते हैं।

जीवन के परिवर्तित रूपों के साथ-साथ समाज में भी परिवर्तन आना स्वाभाविक है। परिवेश और परिस्थितियों की भिन्नता समाज को मानव जीवन को प्रभावित करती है। साहित्य में यह परिवर्तन परिलक्षित होता है। अत: साहित्य मूल्यांकन के लिए नये मापदण्ड प्रस्तुत होते हैं। जीवन की सार्थकता और उसकी गत्यात्मकता विकासशील वर्गों के निर्माण में एक कारक की भूमिका का निर्वाह करती है, तब वर्ग सामाजिक अवधारणाओं से स्वयं को पुष्ट करता है। कार्ल मार्क्स ने सामाजिक प्रतिष्ठा को आर्थिक स्थिति तथा पारिवारिक स्वामित्व को वर्ग चेतना का उदय माना है।

आर्थिक आधार पर हमारा समाज कई श्रेणियों में विभक्त है। डॉ. हेमराज निर्मम के अनुसार ''मार्क्स के विचार में सामन्तवादी युग की समाप्ति पर पूँजीवादी युग का आरम्भ हुआ। पूँजीवादी युग ने कृषि में अधिकांश लोगों को साधारण काशकार बना दिया है . . .। इसलिए पूँजीवादी युग के चरम विकास में समाज में केवल दो ही वर्ग रह जाएगें, बुर्जुआ और प्रोलेटियर (श्रमिक)। बुर्जुआ और श्रमिक के बीच में एक वर्ग है जिसे पेठी (छोटी) बुर्जुआ कहा गया है। पर मार्क्स और एंग्लिस भविष्य में इस वर्ग का कोई अस्तित्त्व नहीं मानते। अत: उनकी दृष्टि में समाज केवल दो वर्गों में विभाजित है–बुर्जुआ और श्रमिक।''

आर्थिक आधार पर मुख्यत: दो वर्ग दृष्टिगत होते हैं महाजनों/जमींदार तथा सेठ साहूकारों के रूप में उच्च वर्ग (पूँजीपति वर्ग) तथा छोटे किसानों खेतिहर मजदूरों एवं अन्य पेशेवर मजदूरों के रूप में निम्न वर्ग। जिसे समाज में शोषक और शोषित के नाम से अभिहित किया जाता है। पूँजीपति वर्ग शोषक का प्रतिनिधित्व करता है तथा गरीब (निम्न वर्ग) शोषितों का, पर गाँवों में शहरी व्यवस्था संक्रमित हो रही है। ग्रामीण लोग कृषि के अतिरिक्त नौकरी व अन्य व्यवसायों की ओर भी अग्रसर होने लगे हैं। अत: उच्च व निम्न वर्ग के बीच एक तीसरा वर्ग 'मध्यवर्ग' उठ खड़ा हुआ। डॉ. सुरेन्द्र नाथ तिवारी के अनुसार ''आज के जीवन में अर्थ ही सामाजिक विषमता का मूल कारण है और अर्थ पर ही आधारित, आधुनिक सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत नये वर्गों का प्रादुर्भाव भी हुआ है फलत: वर्ग चेतना और वर्ग संघर्ष आधुनिक युग में ही विशेष रूप से प्रतिध्वनित हुआ है।'' आर्थिक और सामाजिक स्तर वाले व्यक्ति एक वर्ग का निर्माण करते हैं। भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा वर्ग-निर्धारण के भिन्न-भिन्न प्रमुख आधार बतलाए गए हैं। किन्तु किसी एक आधार पर वर्ग निर्धारण करना उचित नहीं है।

समाज का वर्गीकरण

उच्च वर्ग–समाज का सबसे अधिक सम्पन्न वर्ग उच्च वर्ग की श्रेणी में आता है। उच्चवर्ग के व्यक्ति धनधान्य एवं सुख–सुविधाओं से परिपूर्ण होते है। इस कारण यह ऐश्वर्य पूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। गाँवों में उच्च वर्ग के अन्तर्गत जमींदार, महाजन, तहसीलदार, सेठ साहूकार, मुखिया, नेता व सरकारी अफसर आते हैं।

मध्यवर्ग–उच्च वर्ग और निम्न वर्ग के बीच का वर्ग मध्य वर्ग कहलाता है। इनकी बौद्धिक विचारधारा उच्च वर्ग के समान होती है। परन्तु आर्थिक अभाव के कारण उच्च वर्ग के समान जीवन यापन करने में प्रायः असमर्थ रहते हैं।

उच्चमध्य वर्ग–यह मध्यवर्ग का ऊपरी हिस्सा है और उच्च वर्ग के कुछ निकट होता है। यह केवल अपने हित को ही ध्यान में रखता है। यह निम्न वर्ग से दूसरी बनाये रखता है।

निम्नवर्ग–समाज का सबसे अधिक पिछड़ा हुआ वर्ग निम्न वर्ग की श्रेणी में आता है। इस वर्ग के अन्तर्गत अनुसूचित जातियाँ अनुसूचित जन जातियाँ, खेतिहर किसान, भूमिहीन मजदूर, आदि आते हैं। इनका जीवन अत्यन्त संघर्षपूर्ण होता है। गाँवों में अधिकांश व्यक्ति कृषि कर्म से जुड़े हैं। उनके पास श्रम के अलावा उत्पादन का कोई साधन नहीं होता। ''यह निम्न वर्ग उन लोगों का वर्ग है, जो अपने जीविकोपार्जन के लिए श्रम पर निर्भर रहते हैं।

निम्नमध्य वर्ग–निम्नमध्य वर्ग मध्यवर्ग का निचला स्तर है। इस वर्ग की आवश्यकता पेट भरने तक सीमित रह जाती है। ग्रामीण निम्न मध्यवर्ग के अन्तर्गत मुख्यतः छोटे महाजन, सौदागर, पंडे–पुरोहित, खाते–पीते किसान आते हैं। शहरी निम्नवर्ग में छोटे व्यापारी दुकानदार, शिक्षित बुद्धिजीवी, महावारी वेतन भोगी कर्मचारी

समाज का अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताएं

समाज शब्द संस्कृत के दो शब्दों सम् एवं अज से बना है। सम् का अर्थ है इक्ट्ठा व एक साथ अज का अर्थ है साथ रहना। इसका अभिप्राय है कि समाज शब्द का अर्थ हुआ एक साथ रहने वाला समूह। मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है। मनुष्य ने अपने लम्बे इतिहास में एक संगठन का निर्माण किया है। वह ज्यों–ज्यों मस्तिष्क जैसी अमूल्य शक्ति का प्रयोग करता गया,उसकी जीवन

पद्धति बदलती गयी और जीवन पद्धतियों के बदलने से आवश्यकताओं में परिवर्तन हुआ और इन आवश्यकताओं ने मनुष्य को एक सूत्र में बाधना प्रारभ्म किया और इस बंधन से संगठन बने और यही संगठन समाज कहलाये और मनुष्य इन्हीं संगठनों का अंग बनता चला गया। बढ़ती हुई आवश्यकताओं ने मानव को विभिन्न समूहों एवं व्यवसायों को अपनाते हुये विभक्त करते गये और मनुष्य की परस्पर निर्भरता बढ़ी और इसने मजबूत सामाजिक बंधनों को जन्म दिया।

वर्तमान सभ्यता में मानव का समाज के साथ वही घनिष्ठ सम्बंध हो गया है और शरीर में शरीर के किसी अवयव का होता है। विलियम गर महोदय का कथन है–मानव स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है, इसीलिये उसने बहुत वर्णों के अनुभव से यह सीख लिया है कि उसके व्यक्तित्व तथा सामूहिक कार्यों का सम्यक् विकास सामाजिक जीवन द्वारा ही सम्भव है। रेमण्ट महोदय का कथन है कि–एकांकी जीवन कोरी कल्पना है। शिक्षा और समाज के सम्बंध को समझने के लिये इसके अर्थ को समझना आवश्यक है।

समाज की परिभाषा

ग्रीन ने समाज की अवधारणा की जो व्याख्या की है उसके अनुसार समाज एक बहुत बड़ा समूह है जिसका को भी व्यक्ति सदस्य हो सकता है। समाज जनसंख्या, संगठन, समय, स्थान और स्वार्थों से बना होता है।

एडम स्मिथ–मनुष्य ने पारस्परिक लाभ के निमित्त जो कृत्रिम उपाय किया है वह समाज है।

डॉ. जेम्स–मनुष्य के शान्तिपूर्ण सम्बन्धों की अवस्था का नाम समाज है।

प्रो. गिडिंग्स–समाज स्वयं एक संघ है, यह एक संगठन है और व्यवहारों का योग है, जिसमें सहयोग देने वाले व्यक्ति एक–दूसरे से सम्बंधित है।

प्रो. मैकाइवर–समाज का अर्थ मानव द्वारा स्थापित ऐसे सम्बंधों से है, जिन्हें स्थापित करने के लिये उसे विवश होना पड़ता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है, समाज एक उद्देश्यपूर्ण समूह हेाता है, जो किसी एक क्षेत्र में बनता है, उसके सदस्य एकत्व एवं अपनत्व में बंधे हेाते हैं।

समाज की विशेषताएँ

समाजशास्त्रियों ने समाज की परिभाषा कई अर्थों में दी है। समाज के साथ जुड़ी हुई कतिपय विशेषताएँ हैं और ये विशेषताएँ ही समाज के अर्थ को स्पष्ट

करती है। हाल के समाजशास्त्रियों में जॉनसन ने समाजशास्त्र के लक्षणों को वृहत् अर्थों में रखा है। यहाँ हम समाज की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख करेंगे जिन्हें सामान्यतया सभी समाज शास्त्री स्वीकार करते हैं। ये विशेषताएँ हैं–

एक से अधिक सदस्य

कोई भी समाज हो, उसके लिये एक से अधिक सदस्यों की आवश्यकता होती है। अकेला व्यक्ति जीवनयापन नहीं कर सकता है और यदि वह किसी तरह जीवन निर्वाह कर भी ले, तब भी वहसमाज नहीं कहा जा सकता। समाज के लिये यह अनिवार्य है कि उसमें दो या अधिक व्यक्ति हों। साधु, सन्यासी, योगी आदि जो कन्दराओं और जंगलों में निवास करते हैं, तपस्या यासाधना का जीवन बिताते हैं, समाज नहीं कहे जा सकते।

वृहद संस्कृति

समाज में अगणित समूह होते हैं। इन समूहों को एथनिक समूह कहते हैं इन एथनिक समूहों की अपनी एक संस्कृति होती है, एक सामान्य भाषा होती है, खान–पान होता है, जीवन पद्धति होती है, और तिथि त्यौहार होते हैं। इस तरह की बहुत उप–संस्कृतियाँ जब तक देश के क्षेत्र में मिल जाती है तब वे एक वृहद संस्कृति का निर्माण करती हैं। दूसरें शब्दों में, समाज की संस्कृति अपने आकार–प्रकार में वृहद होती है जिसमें अगणित उप–संस्कृतियाँ होती हैं। उदाहरण के लिये जब हम भारतीय संस्कृति की चर्चा करते हैं तो इससे हमारा तात्पर्य यह है कि यह संस्कृति वृहद है जिसमें कई संस्कृतियाँ पाई जाती हैं। हमारे देश में अनेकानेक उप–संस्कृतियां हैं। एक ओर इस देश में गुजराती, पंजाबी यानी भांगड़ा और डांडिया संस्कृति है वहीं बंगला संस्कृति भी है। उप–संस्कृतियों में विभिन्नता होते हुए भी कुछ ऐसे मूलभूत तत्त्व हैं, जो इन संस्कृतियों को जोड़कर भारतीय संस्कृति बनाते हैं। हमारे संविधान ने भी इन उप–संस्कृतियों के विकास को पूरी स्वतंत्रता दी है। कोई भी एक संस्कृति दूसरी संस्कृति के क्षेत्र में दखल नहीं देती। संविधान जहाँ प्रजातंत्र, समानता, सामाजिक न्याय आदि को राष्ट्रीय मुहावरा बनाकर चलता है, वहीं वह विभिन्न उप–संस्कृतियों के विकास के भी पूरे अवसर देता है। ये सब तत्त्व किसी भी समाज की वृहद संस्कृति को बनाते हैं। जब हम अमरीकी और यूरोपीय समाजों की बात करते हैं, जो इन समाजों में भी कई उप–संस्कृतियों से बनी हुई वृहद संस्कृति होती है। अमरीका में कई

प्रजातियाँ–काकेशियन, मंगोलियन, नीग्रो, इत्यादि। इस समाज में कई राष्ट्रों के लोग निवास करते हैं–एशिया, यूरोप, आस्ट्रेलिया इत्यादि। यूरोपीय समाज की संस्कृति भी इसी भांति वृहद है।

क्षेत्रीयता

जॉनसन का आग्रह है कि किसी भी संस्कृति का कोई न कोई उद्‌गम का क्षेत्र अवश्य होता है। प्रत्येक देश की अन्तर्राष्ट्रीय सीमाएँ होती हैं। इसी को देश की क्षेत्रीयता कहते हैं। इस क्षेत्रीयता की भूमि से ही संस्कृति का जुड़ाव होता है। यदि हम उत्तराखण्ड की संस्कृति की बात करते हैं तो इसका मतलब हुआ कि इस संस्कृति का जुड़ाव हिमाचल या देव भूमि के साथ है। मराठी संस्कृति या इस अर्थ में मलयालम संस्कृति भी अपने देश के भू–भाग से जुड़ी होती है।

यह संभव है कि किसी निश्चित क्षेत्र में पायी जाने वाली संस्कृति अपने सदस्यों के माध्यम से दूसरे में पहुँच जाए, ऐसी अवस्था में जिस क्षेत्र का उद्‌गम हुआ है उसी क्षेत्र के नाम से संस्कृति की पहचान होगी। उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड या न्यूयार्क में रहने वाला भारतीय अपने आपको भारतीय संस्कृति या भारतीय समाज का अंग कह सकता है, जबकि तकनीकी दृष्टि से अमेरीका में रहकर वह भारतीय क्षेत्र में नहीं रहता। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जिस क्षेत्र में संस्कृति का उद्‌गम हुआ है, उसी क्षेत्र के समाज के साथ में उसे पहचाना हुआ मानता है। उत्तर प्रदेश में रहने वाला एक गुजराती अपने आपको गुजराती संस्कृति के साथ जुड़ा हुआ मानता है। उसकी भाषा, खान–पान, तिथि, त्यौहार, उत्तरप्रदेश में रहकर भी गुजराती संस्कृति के होते हैं

सामाजिक संबंधों का दायरा

समाज के सदस्यों के सम्बन्ध विभिन्न प्रकार के होते हैं। समाज जितना जटिल होगा, सम्बन्ध भी उतने ही भिन्न और जटिल होंगे। सम्बन्ध कई तरह के होते हैं–पति–पत्नी, मालिक मजदूर, व्यापारी–उपभोक्ता आदि। इन विभिन्न सम्बन्धों में कुछ सम्बन्ध संघर्षात्मक होते हैं और कुछ सहयोगात्मक। समाज का चेहरा हमेशा प्रेम, सहयोग और ममता से दैदीप्यमान नहीं होता, इसके चेहरे पर एक पहलू बदसूरत भी होता है। समाज में संघर्ष, झगड़े–टंटे, मार–पीट और दंगे भी होते हैं। जिस भांति समाज का उजला पक्ष समाज का लक्षण है, वैसे ही

बदसूरत पक्ष भी समाज का ही अंग है। अत: समाज जहाँ मतैक्य का प्रतीक है, वही वह संघर्ष का स्वरूप भी है।

श्रम विभाजन

समाज की गतिविधियाँ कभी भी समान नहीं होती। यह इसलिये कि समाज की आवश्यकताएँ भी विविध होती है। कुछ लोग खेतों में काम करते हैं और बहुत थोड़े लोग उद्योगों में जुटे होते हैं। सच्चा यह है कि समाज में शक्ति होती है। इस शक्ति का बंटवारा कभी भी समान रूप से नहीं हो सकता। सभी व्यक्ति तो राष्ट्रपति नहीं बन सकते और सभी व्यक्ति क्रिकेट टीम के कप्तान नहीं बन सकते। शक्ति प्राय: न्यून मात्रा में होती है और इसके पाने के दावेदार बहुत अधिक होते हैं। इसी कारण समाज कहीं का भी, उसमें शक्ति बंटवारे की को न कोई व्यवस्था अवश्य होती है। शक्ति के बंटवारे का यह सिद्धांत ही समाज में गैर-बराबरी पैदा करता है। यह अवश्य है कि किसी समाज में गैर-बराबरी थोड़ी होती है और किसी में अधिक। हमारे देश में गरीबी का जो स्वरूप है वह यूरोप या अमेरिका की गरीबी की तुलना में बहुत अधिक वीभत्स है। जब कभी समाज की व्याख्या की जाती है, जो इसमें श्रम विभाजन की व्यवस्था एक अनिवार्य बिन्दु होता है। कोई भी समाज, जो विकास के किसी भी स्तर पर हो, उसमें श्रमविभाजन का होना अनिवार्य है।

काम प्रजनन

समाज की वृद्धि और विकास के लिये बराबर नये सदस्यों की भर्ती की आवश्यकता रहती है। ऐसा होना समाज की निरन्तरता के लिये आवश्यक है। यदि समाज की सदस्यता में निरन्तरता नहीं रहती तो लगता है कि समाज का अस्तित्त्व खतरे में है। सदस्यों की यह भर्ती कई तरीकों से हो सकती है-साम्राज्य विस्तार, उपनिवेश और आप्रवासन। पर सामान्यतया समाज की सदस्यतया की सततता को बनाये रखने का तरीका काम प्रजनन है। इसका मतलब है, समाज के सदस्यों की सन्तान समाज के भावी उत्तरदायित्व को निभाती है।

मानव एवं समाज के सम्बन्ध के सिद्धान्त

मानव एवं समाज अन्योन्याश्रित है पर समाजशास्त्री इस सम्बंध के विषय में पृथक-पृथक विचार रखते हैं, इनके विचारों को नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

सामाजिक संविदा का सिद्धान्त

यह अत्यन्त प्राचीन सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को मानने वाले महाभारत कौटिल्य के अर्थशास्त्र, शुक्रनीतिसार, जैन और बौद्ध साहित्य आदि सभी इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं आधुनिक पाश्चात्य् दार्शनिक में टामस हाब्स, लाक और रूसो इस मत का प्रबल समर्थक है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज नैसर्गिक नहीं बल्कि एक कृत्रिम संस्था है। मनुष्यों ने अपने स्वार्थ के लिये समाज का नियंत्रण स्वीकार किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार एकांकी जीवन की कठिनाइयों एवं दबंगों के दबाव को झेलते हुये व्यक्ति ने स्वयं को संगठित कर लिया और इन संगठनों को समाज की संज्ञा दी गयी। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री अरस्तु के कथन को मैकाइवर व पेज ने अपनी रचना सोसाइटी में लिखा कि-मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य सुरक्षा आराम, पोषण, शिक्षा, उपकरण, अवसर तथा उन विभिन्न सेवाओं के लिये जिन्हें समाज उपलब्ध कराता है, समाज पर निर्भर है।

समाज का अवयवी सिद्धान्त

इस सिद्धान्त का अन्तनिर्हित अर्थ है समाज एक जीवित शरीर है और मनुष्य उसका अंग है। इस सिद्धान्त के समर्थक मानते हैं कि समाज विभिन्न अंगों में विभाजित है और सभी अंग अपने प्रकार्यों के माध्यम से समाज को जीवन व गति प्रदान करते हैं। समाज रूपी शरीर में व्यक्ति कोशिका की तरह है, और इसके अन्य अवयव समितियां तथा संस्थायें हैं। वास्तव में यह सिद्धान्त आज के युग में प्रासांगिक है इसके अनुसार समाज मानव के ऊपर है, यह बात सच है कि मनुष्य समाज का अंग है, और समाज को शरीर मानकर और मनुष्य को कोशिका मानकर मानव अस्तित्त्व को स्वीकारना ठीक नहीं है। सत्यकेतु विद्यलंकार ने स्पष्ट किया है कि समाज हमारे स्वभाव में है अतः स्थायित्व उसका स्वभाविक गुण है। शरीर सिद्धान्त के अनुसार समाज में स्वतंत्र रूप से व्यक्तियों की कोई स्थिति नहीं है, जिसे स्वीकारना भी सम्भव नहीं है।

मनुष्य एवं समाज में आश्रिता

व्यक्ति व समाज एक-दूसरे के पूरक हैं व्यक्ति मिलकर समाज का निर्माण करते हैं और समाज व्यक्ति के अस्तित्त्व एवं आवश्यकता को पूरा करता है, ये दोनों परस्पर आश्रित हैं। व्यक्तियों के योग से समाज उत्पन्न होता

है। हैवी हर्स्ट तथा न्यू गार्टन ने अपनी पुस्तक सोसाइटी एण्ड एजुकेशन में समाजीकरण की व्याख्या करते हुये लिखा है सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से बच्चे अपने समाज के स्वीकृत ढंगों को सीखते है, और इन ढंगों को अपने व्यक्तित्व का एक अंग बना देते हैं। सामाजिक संस्था का सदस्य होने के कारण व्यक्ति का व्यक्तित्व एवं अस्तित्त्व दोनो सुरक्षित रहता है, और व्यक्ति का स्व समाज के अधीन हो जाता है। स्वस्थ समाज वही है, जो लोकतांत्रिक व्यवस्था में विश्वास करता है समाज में स्वतंत्रता व्यक्ति की उन्नति का आधार बनता है। समाज और व्यक्ति के मध्य अक्सर संघर्ण उत्पन्न हो जाता है। उसका कारण व्यक्ति की इच्छायें एवं समाज की उससे अपेक्षायें होती हैं।

समाज के प्रमुख तत्त्व

समाज के निर्माण के कई तत्त्व है, इसे जानने के पश्चात् ही समाज का अर्थ पूर्णतया स्पष्ट हो जायेगा–

समाज की आत्मा से मनुष्य का अमूर्त सम्बंध है। समाज एक प्रकार से भावना काआधार लेकर बनता है। व्यक्ति समाज के अवयव के रूप में है। व्यक्तियों के बीच की विविधता समाज में समन्वय के रूप में परिलक्षित होती है। कोहरे राबर्टस के अनुसार–"तनिक सोचने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज के अभाव में व्यक्ति एक खोखली संज्ञा मात्र है। मानव कभी अकेले नहीं रह सकता वह समाज का सदस्य बनकर रह जाता है। मानव का अध्ययन मानव समाज का अध्ययन है, व्यक्ति का विकास समाज में ही सम्भव है।'' रॉस ने स्पष्ट किया–"समाज से अलग वैयक्तिकता का कोई मूल्य नहीं रह जाता है और व्यक्तित्व एक अर्थ हीन संज्ञा मात्र है।''

समाज में हम की भावना होती है। इस भावना के अन्तर्गत व्यक्तिगत मैं निहित होता है, और यही सामाजिक बंधन को जन्म देता है। पर समाज के सम्पूर्ण बंधन स्वार्थ पूर्ण होते हैं।

समाज में समूह मन व समूह आत्मा होती है।, यह सम्बंध पारस्परिक चेतना से युक्त होती है, समूह मन में यह चेतना होती है और उनके यह व्यवहार में प्रकट होती है।

समाज में अपनी सुरक्षा की भावना पायी जाती है, इसके लिये वह अपने अस्तित्त्व की रक्षा के लिये सदैव प्रयत्नशील रहता है, और समाज अपनी निजता

को बनाये रखने के लिये नियम कानून रीति रिवाज संस्कृति व सभ्यता को विकसित वनिर्मित करता है।

समाज की आर्थिक स्थिति उसके सदस्यों की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है तो उनसे आर्थिक स्थिति की विविधता पायी जाती है, परन्तु इन सबके बाद भी उनमें एक समाज अधिकार भावना पायी जाती है, कि हम समाज के सदस्य हैं।

समाज के जीवन एवं संस्कृति सभ्यता के कारण व्यक्तियों के आचार-विचार व्यवहार मान्यताओं में एका पायी जाती है। जिसे हम जीवन का सामान्य तरीका के रूप में देख सकते हैं।

समाज निश्चित उद्देश्यों को रखकर निर्मित होते हैं, जिसमें पारस्परिक लाभ, मैत्रीपूर्ण व शान्तिपूर्ण जीवन आदर्शों एवं कार्यों की पूर्ति आदि के रूप में देखे जा सकते है।

समाज में स्थायित्व की भावना होती है क्योंकि सभी सदस्य कई पीढ़ियों से उसी समाज के आजीवन सदस्य रहते हैं, इससे समाज बना रहता है।

समाज के समूहों के संगठन होते हैं जिनमें अन्योन्याश्रितता होती है। वर्ण-व्यवस्था लगातार चोट करने वाले इस आन्दोलन ने भक्ति के द्वार सभी जातियों के लिए खोल दिया और 'जात-पात पूछे ना कोई, हरि को भजै सो हरि का होई', जैसा नारा देकर सभी को एक धरातल पर प्रतिष्ठित करने की वकालत की। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'प्रेम स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।' मुक्तिबोध का मत है कि 'इस निर्गुण भक्ति में तत्कालीन सामंतवाद-विरोधी तत्त्व सर्वाधिक थे।'– यह न सिर्फ भक्तिमार्ग का निर्माण करता है, बल्कि ऊँच-नीच, पुरुष-नारी, ब्राह्मण-शूद्र आदि भेदों को समाप्त कर मनुष्य मात्र के समान होने की उद्घोषणा करता है।"

भक्ति आन्दोलन के सामाजिक आधार संत गोपेश्वर सिंह

साहित्य का अस्तित्त्व समाज से अलग नहीं होता, इसलिए साहित्य का विकास समाज के विकास से कटा हुआ नहीं हो सकता। साहित्य सामाजिक रचना है, साहित्यकार की रचनाशील चेतना उसके सामाजिक अस्तित्त्व से निर्मित होती है-'प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्तियों का संचित

प्रतिबिम्ब होता है–जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक परिस्थिति के अनुसार होती है।'1 शुक्ल जी के इस कथन को भक्तिकालीन साहित्य और पुख्ता करता है। 'भक्ति–आन्दोलन भारतीय संस्कृति और साहित्य के इतिहास में जन संस्कृति के उत्थान और उसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति का आन्दोलन है। यह एक प्रकार से जनसंस्कृति के नवजागरण का आन्दोलन है, जिसमें जनभाषा में जनजीवन से जुड़े कवियों द्वारा जनभावना की अभिव्यक्ति हुई है जिसमें जितना फैलाव था उतनी गहराई भी और वह उतना ही जनोन्मुखी भी थी–

"भक्तिकालीन साहित्य की सामाजिक विषयवस्तु का यह ऐतिहासिक महत्त्व है कि वह जीवन की स्वीकृति का साहित्य है, उसमें जनता का हास और उल्लास है, जनता का क्रोध और आवेश है, एक सुखी समाज की आकांक्षा है, उसमें अन्याय का सक्रिय विरोध करने वाले वीरों के चित्र हैं। इस विषय वस्तु ने दु:ख के दिनों में जनता का मनोबल कायम रखा, जीवन में उसकी आस्था बनी रहने दी।"

–परम्परा का मूल्यांकन, रामविलास शर्मा, पृ–543

भक्तिकालीन साहित्य का सामाजिक सरोकार जितना व्यापक था उतना गहरा भी। इसने मानव मात्र की समानता की भावना की उद्घोषणा की, जीवन–जगत से खुद को गहराई से जोड़ा। भक्तिकालीन साहित्य शोषण से त्रस्त जनता की इस आकांक्षा को प्रकट करता है कि ऐसे समाज का निर्माण हो जिसमें ऊँच–नीच का भेद न हो, जिसमें सताने वाले राजा न हों, धर्म के ठेकेदार न हों, समाज व्यवस्था का आधार प्रेम हो, जहाँ लोग रोग अकाल से न मरे, जहाँ लिंगगत भेद न हो। उस समय साधारण जनता कर्मकाण्ड जाति व्यवस्था के भँवर–जाल में फँसी थी साथ ही राजसत्ता का शोषण भी जारी था ऐसे सर्वग्रासी चक्की में पीसी जाती हुई जनता को देखकर भक्तिकालीन साहित्यकार का हृदय रो उठा–

"चलती चक्की देखकर, दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में, साबुत बचा न कोय॥"

भक्तिकाव्य का मूल स्वर जनपक्षधर था। मानुष सत्य ही सम्पूर्ण भक्तिकाल काव्य का केन्द्रिय सत्य है–

"शुनह मानुष भाई,
शबार उपरे मानुष सत्य
ताहार उपर नाई।"

उनके यहाँ जाति-वर्ण के भेदभाव के लिए जगह नहीं है-'हम बासी उस देस के जहाँ जाति बरन कुल नाहिं'। भक्ति-आन्दोलन के व्यापक जनाधार, दलितों, शोषितों, पीड़ितों के जीवन में आत्मसम्मानपूर्वक जी सकने की एक नई आशा का संचार करने एवं उनके व्यापक सहयोग व शिरकत के बल पर सम्पूर्ण भारत में फैलकर जनजागरण किया जिसे रामविलास शर्मा 'लोकजागरण' के रूप में देखते हैं। विभिन्न वर्गों तथा वर्ण-व्यवस्था से जर्जर, सामाजिक ऊँच-नीच की भावना से आक्रान्त, नाना प्रकार के भेदभाव, कर्मकाण्ड एवं विधि-निषेधों से परिचालित भारतीय जीवन में भक्ति-आन्दोलन का प्रादुर्भाव और मनुष्य सत्य की उद्घोषणा एक अभूतपूर्व घटना थी जिसकी तुलना पुरुषोत्तम अग्रवाल यूरोप में हुए 17वीं शताब्दी के 'रेनेसाँ' से करते हैं। इस मानववादी, जनपक्षधर आन्दोलन का व्यापक प्रभाव उस समय के साहित्य पर पड़ा। सूर, तुलसी, जायसी, कबीर, दादू, नानक आदि न जाने कितने कवि हुए जिन्होंने समाज को एक महान जीवन-बोध दिया, दुनिया को और बेहतर बनाने की कोशिश की, और सामाजिक विषमताओं, अन्याय, छुआछूत, कर्मकाण्ड और सत्ता व पुरोहितों के द्वारा किए जा रहे शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई-

"उसमें सामाजिक जीवन की तरह-तरह की विसंगतियों की पहचान है। यही नहीं इसमें सामंती समाज व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह की भावना भी है। सामाजिक चेतना, सामंती समाज व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह की भावना और जन-संस्कृति की सृजनशीलता की जैसी अभिव्यक्ति भक्ति काव्य में हुई है वैसी भक्तिकाल के पहले की भारतीय कविता में कम ही मिलती है-भक्तिकाव्य की अन्तर्वस्तु जन-संस्कृति और जन अनुभवों से निर्मित है।"

भक्ति आन्दोलन के सामाजिक आधार

रामविलास शर्मा भक्तिकालीन साहित्य को 'भारतीय जनता के प्रेम, घृणा और वेदना' का दर्पण मानते हैं उनके अनुसार यह साहित्य जनता के हृदय की सबसे कोमल, सबसे सबल भावनाओं का प्रतिबिम्ब है। वह उसकी मानवीय सहृदयता, लौकिक जीवन में आस्था और उज्ज्वल भविष्य की कामना का प्रतीक है। दरअसल, ईश्वर के सम्मुख सभी प्राणियों की समानता का सिद्धान्त उस नई

सामाजिक चेतना का द्योतक था जो सामंती शोषण के विरुद्ध जूझने वाले किसानों और कारीगरों में फैल रही थी7 ये विचार धार्मिक अर्थों में भी नि:संदेह मध्ययुग की उन परिस्थितियों को देखते हुए, जिनमें जाति-पाँति की स्पर्धा और अंधविश्वास के फलस्वरूप समाज की प्रगति करना असम्भव हो गया था, प्रगतिशील थे-

"भक्ति-आन्दोलन ने न केवल अंधविश्वास और जाति-पाँति के खिलाफ आवाज उठाने और ईश्वर की दृष्टि में सबकी समानता घोषित करने की बात तक ही अपने को सीमित रखा। इस आन्दोलन के कुछ नेताओं ने तो मुगल-आधिपत्य और पुरातन तथा सामंती शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध व्यापारियों, कारीगरों और गरीब किसानों के संघर्ष का नेतृत्व भी किया।"

-भारतीय चिन्तन परम्परा, के.दामोदरन, पृ॒ 2378

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में यह पहला अवसर था जब शूद्रों, अंत्यज्यों और सताए हुए वर्गों ने अपने संत दिए और इन संतों ने पहली बार जाति, धर्म, वर्ण तथा सम्प्रदाय की चहरदीवारियों को तोड़ते हुए एक मानव धर्म तथा एक मानव संस्कृति का नारा बुलन्द किया-

"भक्ति-आन्दोलन का जन साधारण पर जितना व्यापक प्रभाव हुआ उतना किसी अन्य आन्दोलन का नहीं। पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किए। अपना साहित्य और अपने गीत सृजित किए। कबीर, रैदास, नाभा, सिपी, सेना, नाई आदि ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज बुलन्द की। समाज के न्यस्त स्वार्थवादी वर्ग के विरुद्ध नया विचारवाद अवश्यंभावी था।"

-नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, गजानन माधव 'मुक्तिबोध', पृ॒ 88

भक्तिकालीन साहित्य ने सामान्य जन में आत्मविश्वास भरा, सम्मानपूर्ण जिंदगी जीने के लिए स्वाभिमान का संचार किया, दुनिया को बाह्याचारों से मुक्त कर प्रेम के महत्त्व को स्थापित करने की पुरजोर कोशिश की, चाहे पौराणिक अवतारवादी सगुण मार्ग हो या निर्गुण साधना का मार्ग-

"सगुणमार्गी साधना ने हिन्दू जाति की बाह्याचार की शुष्कता को आन्तरिक प्रेम से सींचकर रसमय बनाया और दूसरी साधना ने बाह्याचार की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया। एक ने शास्त्र का सहारा लिया दूसरे (निर्गुणमार्गी) ने विद्रोह का।"

-कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी

समझौते का रास्ता छोड़कर विद्रोह का रास्ता अपनाते हुए निर्गुण भक्ति की जो धारा भक्ति-आन्दोलन की स्रोतस्विनी से फूटी, कबीर उसकी सबसे ऊँची लहर के साथ सामने आये-

"इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को सँभाला- मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया।"

-जायसी ग्रन्थावली, संदृ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृदृ 111

उस समय के समाज में मनुष्य की पहचान के दो आधार थे, एक था धर्म, जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य हिन्दू या मुसलमान था। दूसरा आधार जाति-भेद का था, जिसके अनुसार मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र था। कबीर ने न तो किसी धर्म को अपनी पहचान का आधार माना और न जाति को। उन्होंने केवल मनुष्य के रूप में अपनी पहचान समाज के सामने रखा-

"हिन्दू कहो तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाहिं।"

कबीर लोकजीवन में प्रचलित ऐसे अन्धविश्वासों का भी खण्डन करते हैं-

"लोकमति का भोरा रे!
जो कासी तन तजै कबीरा, तो रामहिं कौन निहोरा रे।"

"मन न रंगाए, रंगाए जोगी कपरा।"

असमानता के पैरोकारों के लिए कबीर के व्यंग्य की करारी चोट असहनीय है-

"हमारे कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूध।
तुम कैसे बाभन पाण्डे हम कैसे सूद।"

कबीर ने तथा भक्तिकालीन अन्य कवियों ने भी वास्तव में ऐसे 'मानवाधिकार' का मुद्दा उठाया है-जो मनुष्य को मनुष्य की तरह जीने का अधिकार दे, जिसमें किसी धर्म समाज की रुढ़ियों, आडम्बरों का बन्धन नहीं है। इस दृष्टिकोण से भक्तिकालीन साहित्य मध्ययुग में ही नहीं वरन् आज के समसामयिक माहौल में भी सर्वाधिक प्रासंगिक बना हुआ है।

भक्तिकालीन कवि सर्वसाधारण एवं निम्नवर्ग की जनता की दारुण अवस्था से वे अत्यन्त दु:खी व कातर नजर आते हैं। 'वे अपने दु:ख से नहीं जनता के दु:ख से दु:खी हैं'12-

"दुखिया दास कबीर है जागे अरु रोवै।"

वे भौतिक जीवन व जगत से भागने की बात कभी नहीं करते-'घर में जोग, भोग घर ही में घर तज वन नहीं जावै।' वे राम-रहीम की एकता स्थापित करते हुए हिन्दू-मुसलमान दोनों को समझाते हुए कहते हैं-

"दुई जगदीस कहाँ ते आया, कहु कौन भरमाया।"

'नानक' ने भी ऊँच-नीच, भेद-भाव का विरोध किया। साथ ही बाह्याचार के बदले मन की शुद्धता पर बल दिया-

"जाणहु जोति न पूछहुं जाती आगै जाति न है।"

'धोती ऊजल तिलकु गलि, माला, अंदरि क्रोधु पड़हि नाटसाला।'

भक्त के लिए प्रेम ही परम पुरुषार्थ है। निर्गुण और सगुण दोनों ही प्रकार के भक्ति काव्य में भक्ति की अनुभूति प्राय: प्रेम की ही अनुभूति है, जो सबके लिए है, जहाँ सब समान हैं जहाँ ईश्वर भी प्रेममय है और वही सबकी पहचान है-

"इश्क' अलह की जाति है, इश्क' अलह का अंग।
इश्क' अलह अवजूद है, इश्क' अलह का रंग।।

-दादू

सन्तों ने धर्म पर से पुरोहितों का यह इजारा तोड़ा। खासतौर से जुलाहों, कारीगरों, गरीब किसानों और अछूतों को साँस लेने का मौका मिला। यह विश्वास मिला कि पुरोहितों और शास्त्र के बिना भी उनका काम चल सकता है। संत कवि वर्णवादी समाज को तोड़कर मानवतावादी समाज की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे।

भक्तिकालीन साहित्य में सामाजिक मूल्यों के प्रति गहरी चिन्ता मिलती है। एक मानव धर्म, एक मानव समाज तथा एक मानव संस्कृति का सपना इन क्रान्तिद्रष्टा संतों की विरासत है, जो आगामी पीढ़ियों के लिए बड़ी मशक्कत के बाद उन्होंने सुलभ की थी। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार'इस काव्य का प्रमुख प्रयोजन त्रस्त, संतृप्त, उपेक्षित, उत्पीड़ित मानव को परिज्ञान उपलब्ध कराना है।'

सूफी कवियों ने अपने उदार मानवीय दर्शन के माध्यम से सिद्ध किया कि 'एक ही गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूप-रंग के भेदों की ओर से ध्यान हटा एकात्म का अनुभव करने लगता है।' उन्होंने साम्प्रदायिक संकीर्णता से ऊपर उठकर मानवतावादी दृष्टि की

स्थापना की। सूफी कवियों की कविताओं में पुराने ढाँचे के भीतर अपने समय की जनसंस्कृति की व्यंजना की। 'नागमती वियोग वर्णन' में 'बारहमासा' का प्रयोग करते हुए विरह वर्णन में जनजीवन और जनसंस्कृति की जो मार्मिक व्यंजना है वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सामंती व्यवस्था की सर्वोच्च सत्ता को 'शैतान' के रूप में चित्रित करना बहुत साहस की बात थी, पर जायसी ने यह साहस दिखाया। वे 'पद्मावती' के रूप में नारी सशक्तीकरण का यूटोपिया गढ़ते हैं जहाँ स्त्री के जन्म पर माँ-बाप-प्रजा खुश है। उसके पैदा होने पर 'अवतार' शब्द का प्रयोग करते हैं-

'पद्मावति कन्या ओतरी'

और

'पाँच वरिस मँह सो बारी। दीन्ह पुरान पढ़ै बैसारी।'

कहकर स्त्री-शिक्षा पर बल देते हैं इस मायने में जायसी आज की सोच की बराबरी करते नजर आते हैं।

जायसी तथा अन्य सूफी कवियों ने 'सांस्कृतिक एकता' स्थापित करने का प्रयास किया, सामाजिक साम्प्रदायिक वैमनस्य की जगह उन्होंने प्रेम के उदार धरातल पर अपनी कविता को उतारा-

"-सूफियों ने भारत में भावनात्मक एकता के साथ-साथ मिश्रित सांस्कृतिक परम्पाओं का भी सूत्रपात किया।"

-हिन्दी भक्ति साहित्य में सामाजिक मूल्य एवं अवधारणाएँ, सावित्री चन्द्र, पृ॒ 8415

सूफी कवियों ने समाज को बहुत करीब से देखा था इसलिए उनकी कविता में लोक है, समाज है, संस्कृति है, उनकी धरती है, पेड़-पौधे, जीव-जन्तु, ऋतुएँ सब कुछ है, नहीं है तो बस किसी प्रकार की संकीर्णता, कृत्रिमता-

"जायसी ने सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डाला है। क्या विवाह, क्या मुसलिम आक्रमण और क्या जौहर, क्या राजपूती शौर्य, क्या विलासिता, क्या प्रथाएँ और क्या लोक विश्वास, क्या सामाजिक कृत्य सभी का यथार्थ चित्रण उन्होंने किया है।''

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'हिन्दू हृदय और मुसलमान हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने' का श्रेय देते हैं वहीं रामविलास शर्मा उन्हें 'अवध की

धरती, वहाँ की जन संस्कृति, वहाँ की बोली-बानी के सबसे निकट' पाते हैं। भक्तिकालीन साहित्य का यह रूप युग के महत्त्वपूर्ण ध्रूवों-राजाश्रय एवं धर्माश्रय को छोड़ लोकाश्रय में पनपा। लोकभूमि में पल्लवित पोषित होने के कारण ही इसमें लोक मन की साहित्यिक अभिव्यक्ति हुई। मनुष्यता के सामान्य भावों को अपने प्रेमाख्यानों द्वारा चरितार्थ कर इन्होंने एक संवाद-सेतु निर्मित किया, जहाँ व्यक्ति, सम्प्रदाय, मत, सिद्धान्त, वाद की खाइयाँ अपने-आप पट जाती हैं। इन्होंने मनुष्य के भीतर छिपे प्रेम की रचनात्मक शक्ति को पहचाना और युगीन आवश्यकता की जमीन पर उसका प्रतिपादन किया।

कृष्ण भक्तिकाव्य सामंती समाज की सीमाओं को ललकारता है। सामंती देहवाद के स्थान पर वह प्रेममय रागभाव को स्वीकृति देता है। कृष्ण भक्ति काव्य शास्त्र के स्थान पर लोक का वरण करता है और कर्मकाण्ड आदि की यहाँ कोई अनिवार्यता नहीं है। कृष्ण भक्ति काव्य में कृषि-चारागाही संस्कृति सक्रिय भूमिका का निर्वाह करती है। भक्तिकालीन साहित्य मानवीय सहृदयता, लौकिक जीवन में आस्था और उज्ज्वल भविष्य की कामना का प्रमाण है-

"किस साहित्य में सूर के बालकृष्ण का-सा सौन्दर्य वर्णन मिलेगा ? यह हिन्दी-भाषी जनता की अपनी विरासत है-भारत के अमर गायक सूर द्वारा कृष्ण की बाल-लीला वर्णन ध्वंस और विनाश के विरुद्ध एक चुनौती बनकर मानव को सजग करता है।''

-परम्परा का मूल्यांकन, रामविलास शर्मा, पृ॰ 5018

मनुष्यता के सौन्दर्यपूर्ण और माधुर्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर कृष्णोपासक वैष्णव कवियों ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया, या कम-से-कम जीने की चाह बनी रहने दी। 'सूर' की महिचेतना विकृत मूल्यों को उच्चतर भूमिका पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा है। 'कृष्ण काव्य वास्तव में पारिवारिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक रूप की सुन्दर अभिव्यक्ति हैं-

"सूर पूरी तरह गृहस्थ मानस के कवि हैं-बालक और गाय गृहस्थ जीवन के दो अनिवार्य अंग हैं- इन दोनों के सूर-सागर में कितने प्रस्तुत और अप्रस्तुत रूप हैं जिनकी गिनती कठिन है।"

-हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ॰ 45, 47

सूरसागर में लोक-चिंता काव्यानुभूति के प्रवाह में अन्तर्धारा की तरह है, सतह पर तैरती लकड़ी जैसी नहीं। उसमें समाज का प्रत्यक्ष वर्णन कम है, परन्तु

मानवीय सम्बन्धों के चित्रण और काव्यभाषा की संरचना में उस काल की सामाजिक वास्तविकता के चित्र और प्रतिबिम्ब मौजूद हैं–

"सूर की कविता अपने समय के समाज के पीछे चलने या उसकी आलोचना करने के स्थान पर उस समाज की सामंती व्यवस्थाओं, संस्थाओं, रूढ़ियों के दमनकारी प्रभावों का निषेध करती हुई एक ऐसे समाज की रचना करती है जिसमें लोक और शास्त्र के बंधनों से स्वतन्त्र मानवीय भावों और मानवीय सम्बन्धों का सहज स्वाभाविक विकास संभव हुआ है।"

सूरदास के काव्य में 'यत्र तत्र उस युग की रहन-सहन, पहनावा, बोलदृचाल धर्म आदि पर प्रकाश पड़ता है। वे जनता की इच्छा की राजनीति और जनाकांक्षित राजनीति की स्थापना चाहते थे-

"राजधर्म तब भए सूर जहँ प्रजा न जाय सताए।"

यह राजतंत्र के काल में प्रजातंत्र की आकांक्षा है। सूर ने अपने आराध्य के द्वारा सामाजिक दायित्वों का निर्वाह एक राजा का धर्म बताया, जो एक पैर पर प्रजा के रक्षार्थ खड़ा हो-

"सात बरस को कुँवर कन्हैया गिरिवर धरि जीत्यौ खुररार्इ–
कहाँ कहाँ नहिं संकट मेटत, नर नारी सब करत बड़ार्इ।"

सूर की गोपियाँ उस सामन्ती मानसिकता के खिलाफ खुली बगावत हैं और 'नारी मुक्ति' की साक्षात् उद्घोषणा भी। मीरा का काव्य ही नहीं अपितु जीवन भी राजसत्ता, पुरुषसत्ता व सामन्ती बन्धन के विरुद्ध विद्रोह रहा जो आज भी सामंती मानसिकता के लोगों की आँखों में आँखें डालकर कहता है-

"अपने घर का परदा कर लो
मैं अबला बौराणी।"

भक्तिकालीन साहित्य का पूरा चरित्र सत्तावाद, सामन्तवाद का विरोधी रहा है। कृष्ण भक्त धरा के कवि 'कुम्भनदास' का पद 'सन्तन को कहा सीकरी सो काम' इस पूरी विचार परम्परा का प्रतीक है। तुलसीदास ने प्रकृति जन कीन्हे गुन गाना' की प्रशस्ति परम्परा का विरोध किया। उनका यह स्वर न केवल विद्रोही स्वर है बल्कि गहरे अर्थों में चारण-भाट-सामन्त पूजा का तिरस्कार करता है। तुलसी ने रामकथा को सामन्त विरोधी मूल्यों से मण्डित किया। राम वनवास के समय ग्रामवासियों से मिलते हैं-केवट-निषाद को गले लगाते हैं, अहिल्या को तारते हैं, पतित पावन राम, दीनबन्धु-दीनानाथ के रूप में सामने आते हैं-वे

राजाओं के पास मदद माँगने नहीं जाते, बानरों-भालुओं-भीलों निषादों की मदद से 'जगत दु:खदाता' रावण का वध करते हैं।

जिस काल में गोस्वामी तुलसीदास का जन्म हुआ था, वह बहुत ऊँचे आदर्शों पर नहीं चल रहा था। समाज में अराजकता छायी हुई थी, मानवीय रिश्ते अपना वजूद खो रहे थे, ऐसे समय में तुलसी 'रामराज्य' का यूटोपिया गढ़ते हैं जहाँ दशरथ के रूप में एक राजा जो 'सत्य' की रक्षा प्रिय पुत्र को वनवास देकर और 'स्नेह' की रक्षा प्राण देकर करता है-

"राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेमपनु लागी।"

एक ऐसी प्रजा जो राजा के प्रेम और दु:ख में डूबी हुई है, एक भाई जो सब कुछ अपने बड़े भाई के चरणों में सौंप दिया है, एक पत्नी जो राजसी सुख त्यागकर अपने पति के कर्म, सुख-दु:ख में सहभागी है और एक सेवक जिसे 'राम काज कीन्हें बिनु मोहि कहाँ विश्राम' है और एक राम जिनसे 'खरो है कौन?' दरअसल, वे रामराज्य के रूप में ऐसे समाज की कल्पना कर रहे थे जहाँ-

'साम न दाम न भेद कलि, केवल दण्ड कराल'

'कलि बारहिं बार दुकाल पड़ै। बिनु अन्न दु:खी सब लोग मरै।'

'खेती न किसान को, भिखारी को ने भीख भली
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।'

जैसी स्थितियाँ न हो बल्कि-

'दैहिक दैविक भौतिक तापा, राम राज काहुहिं नहीं व्यापा'।

जैसी स्थिति हो। 'लोकवादी तुलसीदास' के कृतिकार विश्वनाथ त्रिपाठी के शब्दों में-

"रामराज्य तुलसी का यह स्वप्न है जिसे वे अपनी रामकालीन दुर्व्यवस्था अर्थात् कलियुग को तोड़कर स्थापित होते देखना चाहते थे।"

-लोकवादी तुलसीदास, विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ॰ 3025

उन्होंने उस अराजक समाज में समन्वय की विराट चेष्टा की-'शिवद्रोही मम दास कहावा, सो नर सपनेहु मोहि न भावा।' उन्होंने कपटीदृकुटिल भूपों, कराल दण्ड-नीति की निन्दा की है और व्यवस्था दी है कि जिस राजा के राज्य में प्रजा दु:खी हो उसे नरक की प्राप्ति होती है-

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवस नरक अधिकारी।"

उनका रिश्ता अपने जमीन से, अपने समाज से बहुत गहरा था। उनकी कविता में अन्न, फसल, बादल, ओले, वर्षा, धान, दूब आदि का उल्लेख बार-बार आता है। तुलसी की कविता साधारण जनों के हृदय में गहरी धँसी हुई कविता है। उन्होंने-'बाहर से भीतर तक फैले अँधेरों को उजाले में बदला। उनकी कविता बेसहारों का सहारा बनी, देश, काल और विचारों की खाइयाँ पाटी, सुख में, दु:ख में, सच में, स्वप्न में लोगों के साथ रहती है।'

सूर और तुलसी के कृष्ण और राम अन्यायी, अत्याचारी सामंती राजसत्ता के स्थान पर लोकहितकारी राज्य की स्थापना करते हैं। तुलसी की रामराज्य की कल्पना में अत्याचारी सामंती राजसत्ता के स्थान पर न्यायप्रिय और जनप्रिय राजव्यवस्था की जन-आकांक्षा व्यक्त हुई है। सूर और तुलसी ने प्रेममार्गी सूफियों ने लाखों मनुष्यों को उनके ग्रामीण और जनपदीय अंधविश्वासों से अलग नए सूत्र में बाँधा। वास्तव में भक्तिकालीन साहित्य लोगों के जीवन और सांस्कृतिक परम्पराओं को व्यक्त करने वाली कविता है। वर्ग तथा वर्ण-व्यवस्था से जर्जर, सामाजिक ऊँच और नीच की भावना से आक्रान्त, नाना प्रकार के धार्मिक भेदभाव, कर्मकाण्ड तथा विधिनिषेधों से परिचालित समाज में भक्तिकालीन साहित्य एक संजीवनी का काम किया। इन कवियों ने पहली बार जाति, धर्म, वर्ण तथा सम्प्रदाय की चहरदीवारियों को तोड़कर मानवीयता की जमीन तैयार की जहाँ सब बराबर थे, सब को जीने का हक था। आज भी भक्तिकाव्य की महानता, उसके आदर्शों, मूल्यों व विचारधाराओं की महानता व लोकप्रियता सब स्वीकार करते हैं जिसे उसने अपने समाज, अपने युग व उस समय के लोगों के हृदयों में गहरे धँसकर पाया, उनके सुख-दु:ख में सहभागी होकर पाया।

"भक्तिकाव्य एक सांस्कृतिक-लोकजागरण आन्दोलन की उपज थी। भक्तिकाल के कवियों का रिश्ता समाज से बहुत मजबूत था। उनका सरोकार अपनी जमीन को, अपने समाज को बेहतर बनाने की थी। साधारण मानव जीवन कभी भी उनकी आँखों से ओझल नहीं हुआ। उन्होंने गृहस्थाश्रम को त्यागने की राय कभी नहीं दी। उनका काव्य सामन्तवादी ताकतों, रूढ़िवादी शक्तियों व शास्त्र के खिलाफ आम जनता के पक्ष में लड़ा गया एक महान संघर्ष है। उन्होंने घोषणा की-'मानुष प्रेम-भयउ बैकुण्ठी। नाहिं ते काह छार एक मूँठी।' उन्होंने मानवीय पीड़ा से खुद को एकाकार किया और 'रामराज्य' जैसे समाज का यूटोपिया गढ़ा। उनका काव्य मानवीय सरोकारों से अनुप्राणित है।"

कहना न होगा कि भक्तिकालीन साहित्य में देश की कोटि-कोटि जनता की व्यथा, प्रतिरोध भावना और उनकी जीवन-आकांक्षाओं-समस्याओं की अभिव्यक्ति हुई है। यह साहित्य 'लोकजागरण' का साहित्य है, जो मानवीय आदर्शों से परिचालित है तथा मानव विरोधी सामंतवादी मूल्यों के विरुद्ध खुला घोषणा-पत्र है। भक्तिकालीन साहित्य का रिश्ता अपने समाज से बहुत गहरा है। उसका सरोकार अपने समाज से है, उसमें जी रहे लोगों से है, उनके सुख-दु:ख, आशा-निराशा, संस्कृति व विश्वासों से है। भक्तिकालीन साहित्य में उसका समाज धड़क रहा है और उसकी आँखों में 'रामराज्य' का आदर्श पल रहा है। साहित्य का समाज से रिश्ता कैसा हो ? यह हम भक्तिकाल के साहित्य में देख सकते हैं।

हिन्दी भक्ति काव्य मीराबाई, कबीर और संत रविदास ने रचे थे। उन्होंने शिक्षा में पारंगत न होने के बावजूद एक उम्दा भक्ति काव्य समाज को दिया है। सामाजिक चेतना और आध्यात्मिकता की ओर ले जाने वाले इन हिन्दी भक्ति काव्य ने भारत में संस्कृति का सिंचन किया है।

मीराबाई ने कृष्ण भाक्ति में लीन होकर, राजा राणा के राज्य को तिलांजलि दे दी थी। राणाजी ने मीरा की परीक्षा के लिए जहर दिया था। वो कृष्ण के प्यार में जहर भी पी लेती है फिर भी, उसे कोई तकलीफ नहीं हुई थी। मीरा के पद समाज को श्री कृष्ण की भक्ति की ओर ले जाने में सफल हुए हैं।

कबीरजी भी उतने ही धार्मिक थे। उनका साहित्य भी समाज के जीवन के साथ सरोकार रखता है। हिन्दी भक्ति काव्य के रूप में वाल्मिकी रचित रामायण, हिन्दी महाभक्ति काव्य है। रामायण ने सामाजिक जीवन कैसे जिया जाता है, पितृ प्रेम, मातृ प्रेम, पत्नी प्रेम, भातृ भाव, प्रजा प्रेम, मित्र प्रेम आदि की रीत समाज को दी है।

महाभारत भी एक हिन्दी महाकाव्य है,जिसकी रचना वेद व्यासजी ने की थी। रामायण और महाभारत दोनों पहले भारतीय धर्म भाषा, संस्कृत में लिखे गए थे, लेकिन उसका हिन्दी में संस्करण भी किया गया है। ये दोनों हिन्दी भक्ति ग्रन्थ सामाजिक जीवन में उन्नति लाते हैं। सामाजिक जीवन की परिभाषा सिखाते हैं।

इसी तरह, संत रविदासजी द्वारा रचे गए भक्ति काव्य भी एक नयी दिशा देते हैं। उन्होंने मांसाहार और नशे से दूर रहने की सीख दी है। वो कर्म-कांड और मूर्ति पूजा के विरोधी थे। ईरान की यात्रा में मुलाकात के दरम्यान,वो

बेगमपुरा शहर की कल्पना करतें हैं। बेगमपुरा ऐसा होना चाहिए, जहाँ जात-पात में भेदभाव न हो, सबको अन्न मिले, सब सुख-चेन से जिएं और धर्म भावना के साथ अपना जीवन व्यतीत करें, ऐसी सुन्दर कल्पना संत रविदासजी ने 600 साल पहले की है। संत रविदास के 40 भक्ति पद जो पंजाब में गुरू नानकजी के 'ग्रन्थ साहिब' में शामिल हैं, जो जन-जीवन को एक नयी ऊर्जा प्रदान करते हैं। इसी तरह, हिन्दी भक्ति काव्य सामाजिक चेतना और संस्कृति के जतन के लिए एक उम्दा हिन्दी भक्ति काव्य है। वो समाज जीवन से बहुत गहरा सरोकार रखता है।

हिन्दी भक्ति काव्य की रचना संत रविदास, मीराबाई और संत कबीर ने बहुत की है। संत रविदास का साहित्य हिन्दी, अंग्रेजी और पंजाबी में भी उपलब्ध है।

संत रविदास की वाणी

जो तुम गिरिवर तो हम मोरा,
जो तुम चन्द्र तो हम भये है चकोरा।
माधवे तुम न तोरो तो हम नहीं तोरी,
तुम सो तोरी तो किन सो जोरी
जो तुम दिवरा तो हम बाती,
जो तुम तीरथ तो हम जाती।
रैदास राती न सोइए, दिवस न करिये स्वाद,
अहिनिसी हरिजी सुमिरिए, छांड सकल अपवाद।
चित सुमिरन करो नैन अवलोकनों,
श्रवण वाणी सौ जस पूरी राखौ।
मन सो मधुकर करो,चरण ह्रदय धरो,
रसना अमृत सम नाम भाखो।
मेरी प्रीति गोविन्द खोजनी घेरे,
मैं तो मोल महँगी लई लिया सतै।
साध संगत बिना भाव नहीं उपजे,
भाव बिना भक्ति नहीं होय तेरी।
कहे रविदास एक बिनती हरी स्यो,
पैज राखो राजा राम मोरी।

भारत वर्ष के इतिहास में मध्यकालीन युग में लोगों की मुसीबतें ज्यादा थीं। देश, प्रान्तों में बंटा हुआ था। मुस्लिमों ने विजय नहीं पाई, लेकिन तबाही मचायी। मंदिर जो रविदास को प्रिय थे, उसी को तोड़ते हुए संत रविदासजी ने देखा था। क्षुद्र को अछूत माना जाता था। मुस्लिम मूर्ति पूजा के विरोधी थे। धर्म परिवर्तन कराया गया। इस युग में पंजाब में गुरू नानक और पूर्व उत्तर मैं कबीर साहब ने नयी परम्पराओं को जन्म दिया।

संत रविदास आध्यात्मिक सूर्य की आकाश गंगा थे। उनका जन्म राजस्थान में हुआ, ऐसी लोक धारणा है, लेकिन, वो पश्चिम भारत में ज्यादा रहे। वो काशी में रहते थे और मोची का काम करते थे। उनका जन्म 1099 ईसवीं सन् और मृत्यु 1527 में मानी जाती है।

उन्होंने जाति प्रथा, मूर्ति पूजा और क्रिया कांड का विरोध किया था। वो सहिष्णु और सादगी से जीते थे। वो ब्राह्मण नहीं थे, पर शास्त्रार्थ में पंडित को पराजित किया था। चित्तौड़ की रानी मीराबाई उनकी शिष्या बनी थीं।

गुरू-शिष्य का सम्बन्ध

जो तुम गिरिवर तो हम मोरा,
जो तुम चन्द्र तो हम भये है चकोरा।
माधवे तुम न तोरो तो हम नहीं तोरी,
तुम सो तोरी तो किन सो जोरी।

संत रविदासजी अपने गुरू के प्रति अपनी प्रीत का वर्णन करते हैं। वो कहते हैं कि प्रभु, तुम जो पर्वत हो तो मैं मोरा हूँ। मैं आपके प्यार में पागल हूँ। मेरा प्रेम आपके प्रति चन्द्र और चकोर जैसा है। रविदासजी प्रभु को माधव कहकर पुकारते हैं। उनका एक शेर है-

आरजी सो अक्स था इके इल्तफाते दोस्त का,
जिसको नादानी से ऐसे जाबिंदा समझा था मैं।

प्रभु आपने जब आँख घुमा ली, तब पता चला कि ये तो काँटों की सेज है। संत रविदासजी अपने गुरू के प्रति प्रेम व्यक्त करते हुए कहते हैं कि-

"जो तुम दिवरा तो हम बाती,
जो तुम तीरथ तो हम जाती।"

वो कहते हैं कि मैं बाती हूँ और तुम दीया हो। संत रविदासजी आदर्श शिष्य का जीवन कैसा होता है, वो बताते हैं। सच्चे भक्त की पहचान कराते हैं।

"रैदास राती न सोइए, दिवस न करिये स्वाद,
अहिनिसी हरिजी सुमिरिए, छांड सकल अपवाद।"

तुम मेरे पास होते हो गोया,जब कोई दूसरा नहीं होता।

"मिटा दे अपनी हस्ती को अगर कुछ मरतबा चाहे कि दाना खाक में मिलकर गुले गुलजार होता है।"

जब बीज मिट्टी में मिल जाता है तब खुद का अस्तित्त्व खो देता है। वो फूल का रूप धारण कर लेता है। आध्यात्मिक मार्ग भी इसी तरह है। रविदासजी कहते हैं कि सच्चा शिष्य रात में सोता नहीं है। शिष्य हमेशा गुरू के साथ जुड़ा हुआ होता है।

"हम अपने जजबा-ए-बेदार को रुसवा नहीं करती,
शबे गम नींद से आँखों का आलूदा नहीं करेती।"

ये संत दर्शनजी महाराज कहते हैं-आशिक अपनी प्रियतमा से नजर नहीं हटाता, वो आँखों को बदनाम नहीं करता।

संत रविदासजी कहते हैं कि-

"ए दिल बेकरार ओ, रो ले, तड़प ले, जाग ले, नींद की फिक्र क्यों, अभी रात मिली है बेसहर।"

वो कहते हैं कि रात-दिन हमें प्रभु को यही करना चाहिए। सब छोड़कर उनका स्मरण करना चाहिए।

रुआध्यात्मिकता और धर्म

चित सुमिरन करो, नैन अवलोकनो,
श्रवण वाणी सौ जस पूरी राखौ।
मन सो मधुकर करो, चरण हृदय धरौं,
रसना अमृत राम नाम भाखौ।
मेरी प्रीति गोविन्द स्योंजनी घटै,
मैं तो मोल महँगी लई लिया सटै।
साध संगत बिना भाव नहीं उपजै,
भाव बिनो भक्ति नहीं होय तेरी।
कहे रविदास एक बिनती हरी सयों,
पैज राखो राजा राम मोरी।

इसमें संत रविदास आदर्श शिष्य के जीवन का वर्णन कर रहे हैं। यह आध्यात्मिकता का मार्ग है। प्रेममयी बने बिना कुछ मिलता नहीं है। गुरू और

शिष्य में प्रेम होना जरूरी है। जिस तरह चरवाहा अपने गौआ-बकरियों को पहचानता है, उसी तरह गुरू अपने शिष्य को, अपने जीवों को इकठ्ठा करके प्रभु के पास ले जाते हैं।

"जन्म मरण दौउ में नाही जन परोपकारी आये,
जिया दान है भक्ति भावन हरि सयों लेन मिलाये।"

शिष्य का जीवन भंवर जैसा होना चाहिए। जैसे भंवर फूल के आस-पास घूमता रहता है, वैसे गुरू के पास शिष्य को आगे-पीछे घूमते रहना चाहिए। शिष्य होना शरणागति है। रविदासजी प्रार्थना करते हैं, कि हमें संगत साधू की मिले। संगत से भाव पैदा होता है। प्रभु को याद करना अपने जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। उनके मुख में प्रभु का ही नाम होता था। अपनी आँखों से प्रभु को ही देखना चाहते थे। संत रविदास और कबीर के गुरू स्वामी रामानंद थे। रविदासजी मांसाहार और नशे के विरोधी थे, जाति भेद का विरोध किया था। कर्म-कांड के विरोधी थे, मद्य और पशु हिंसा के विरोधी थे। वो मेहनत की कमाई से ही जीना चाहते थे।

"जाति-पाती के फेरे में सुलज रह्यो सब लोग,
मानवता को खात है रैदास जाती को रोग।"

संत तुकाराम ने संत रविदासजी को एक साखी में कहा था-

निवृति ज्ञानदेव सोपान चंगाजी, मेरे जी के नामदेव, नागाजन मित्र, नरहरी सोनार, रविदास कबीर सगा मेरे।

सिखों के गुरू नानकदेवजी ने भक्ति काव्य में कहा है कि,-

"रविदास चमारू उस्तुति करे, हर की रीती निमख एक गाई,
पतित जाति उत्तम भया, चारो चरण पये जग गाई,
रविदास हयाये प्रभु अनूप, नानक गोविद रूप।"

गुरुनानक कहते हैं कि, चारों वर्णों के लोग संत रविदास के चरणों में नमन करते हैं, क्योंकि वो ज्ञानी है। मेवाड़ की महारानी भक्त कवियित्री मीराबाई ने गुरू दीक्षा लेकर उनका सन्मान किया था। मीराबाई एक भक्ति काव्य में कहती है कि,-

"मेरा मन लागो गुरू सौ, अब न रहूंगी अटके,
गुरू मिलियो रोहिदासजी, दिन्ही ज्ञान के गुटकी,
रैदास मोहे मिले सदगुरू, दिन्ही सूरत सुरई की,
मीरा के प्रभु ते ही स्वामी,श्री रैदास सतगुरुजी।"

संत रविदासजी भक्ति युग के महान संत थे। गुरू संत रविदासजी के 40 पद "श्री गुरू ग्रन्थ साहेब" में समाविष्ट है। सोलह रागों में अपनी वाणी संत रविदासजी करते थे। रविदासजी कहते हैं कि-

"रविदास ब्राह्मण मत पुजिये, जो होवे गुण हिन,
पूजिये चरण चंडाल के जो होवे गुण परवीन।"

600 साल पहले मुस्लिम बादशाह ने ईरान में संत रविदास को बुलाया था। ईरान के आबादान शहर में वो गए थे। आबादान के नाम से पर उन्होंने अपनी कल्पना का शहर "बेगमपुरा कैसा होना चाहिए" उसका वर्णन अपनी वाणी में किया है। बेगमपुरा शहर को-

नाउ, दु:ख अन्दोहु नहीं तीही ठाउ, ना तसविस खिराजू न मालू, खउकु न खता, न तरसु जवाळु, अब मोहि वतन गई पाई, हाँ खैरी सदा मेरे भाई।।
कायमु, दायमु सदा पाति साही, दोम न सेम एक सौ आहि।।
आबादानु सदा मशहूर, उहाँ गनी बसही मामूर।।
तिह-तिह शैल करही, जिह भावै।।
महरम महन न को अटकावे।।
कवि रविदास खलास चमारा।।
जो हम सहरी सु मितु हमारा।।

उनका भक्ति काव्य-

"अब कैसे छूटे नाम रट लागी, प्रभुजी तुम चंदन हम पानी,
जाकी अंग-अंग बास समानी, प्रभुजी तुम घनबन हम मोरा,
जैसे चितवत चन्द्र चकोरा, प्रभुजी तुम दीपक हम बाती,
जाकी ज्योति बरै दिन राती, प्रभुजी तुम मोती हम धागा,
जैसे सोन ही मिलत सुहागा, प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा,
ऐसी भक्ति करे रैदासा, प्रभुजी तुम चन्दन हम पानी।।"

4

भक्ति आन्दोलन की सामाजिक पृष्ठभूमि

हिन्दी साहित्य का काल विभाजन करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विक्रम सम्वत् 1050–1375 की अवधि को वीरगाथाकाल (आदिकाल), सम्वत् 1375–1700 को पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) और सम्वत् 1700–1900 की अवधि को उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल) की संज्ञा देते हैं। इस्वी सन् में इसकी गणना करें तो आचार्य शुक्ल के मतानुसार सन् 1318 में वीरगाथा काल (आदिकाल) समाप्त हो जाता है और सन् 1318–1643 भक्तिकाल और सन् 1643–1843 रीतिकाल माना जाएगा।

पूर्व मध्यकाल का परिचय शुरू करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं––देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देव मन्दिर गिराए जाते थे, देव मूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं, और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था, और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे, और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। इतने भारी राजनीतिक उलट फेर के पीछे हिन्दू–जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?

वस्तुतः हिन्दी साहित्य के मध्यकाल, भारतीय इतिहास के मध्यकाल और विश्व इतिहास के मध्यकाल में फर्क है। विश्व इतिहास में सातवीं शताब्दी से सतरहवीं शताब्दी के अन्त तक का समय मध्य युग माना जाता है, जबकि भारतीय इतिहास में छठी शताब्दी के अन्तिम चरण से ही मध्य युग का प्रारम्भ माना जाता है। सन् 606 में हर्षवर्द्धन ने गद्दी सँभाली, सन् 630 में ह्वेनसांग ने भारत की यात्रा की, सन् 632 में शंकराचार्य का जन्म हुआ, सन् 761 में मुहम्मद बिन कासिम द्वारा भारत पर पहला मुस्लिम आक्रमण हुआ, सन् 1000 में महमूद गजनी ने भारत पर चढ़ाई की, सन् 1017 में अलबिरुनी ने भारत यात्रा की, सन् 1191 में मुहम्मद गोरी और पृथ्वीराज चौहान के बीच तराई का पहला युद्ध हुआ, सन् 1288 में मार्को पोलो भारत आए। इन तमाम घटनाओं की भली-बुरी परिणतियों के साथ सामाजिक जीवन की दशा के मद्देनजर बारहवीं शताब्दी के अन्त तक के समय को पूर्व मध्ययुग और तेरहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक के समय को उत्तर मध्ययुग कहा जाता है।

इसी दौरान खिलजी सल्तन की स्थापना (सन् 1300), विजयनगर अम्पायर (सन् 1336-1565), वास्कोडिगामा की पहली गोआ-यात्रा (सन् 1498) हुई। काबुल के मुगल शासक बाबर ने सन् 1526 में दिल्ली और आगरा पर हमला किया और सुल्तान इब्राहिम लोधी को मार डाला। सन् 1530 में बाबर की मृत्यु हुई, हुमायूँ ने गद्दी सँभाली। सन् 1556 में हुमायूँ की मृत्यु के बाद उनके बेटे अकबर ने गद्दी सँभाली। सन् 1600 में इंगलैण्ड ईस्ट इण्डिया कम्पनी का गठन हुआ। सन् 1605 में अकबर की मृत्यु के बाद उनके बेटे जहाँगीर और सन् 1628 में जहाँगीर की मृत्यु के बाद उनके बेटे शाहजहाँ गद्दी पर बैठे। सन् 1630 में शिवाजी का जन्म, सन् 1658 में शाहजहाँ द्वारा ताजमहल, जामा मस्जिद और लाल किले का निर्माण, सन् 1674 में मराठा अम्पायर की स्थापना, सन् 1761 में पानीपत की तीसरी लड़ाई से मराठा अम्पायर के विस्तार का अवरोध, सन् 1818 में मराठा अम्पायर के पतन और अधिकांश भारतीय भूखण्ड पर ब्रिटिश नियन्त्रण भी इसी दौर की प्रमुख घटनाएँ हैं। सन् 1829 में सती प्रथा पर रोक लगा और सन् 1857 में भारत का प्रथम स्वाधीनता संग्राम हुआ, जिसे भारत का सैन्य-विद्रोह भी कहा जाता है। आगे चलकर सन् 1885 में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई। इस अवधि की ये नवतावादी घटनाएँ भारतीय समाज में नवता और आधुनिकता के प्रवेश के संकेत देती हैं।

दरअसल हर्षवर्द्धन की मृत्यु के बाद उत्तर भारत के राजनीतिक क्षितिज पर राजपूतों का वर्चस्व छाया हुआ था। तथ्य है कि राजपूत अपनी बहादुरी और शौर्य के लिए जाने जाते रहे हैं, पर पुश्तैनी शत्रुता और अहंकार के प्रबल संकेतों के कारण अक्सर उनके बीच संघर्ष चलता रहा। निरन्तर आपसी लड़ाइयों के कारण वे कमजोर पड़ते गए। राजपूतों के इसी अलगाववादी हरकतों के कारण विदेशी तुर्कों का भारत में प्रवेश सम्भव हुआ। अपने समय के सबसे बड़े राजपूत शासक पृथ्वीराज चौहान का मुहम्मद गोरी के हाथों पराजय हुआ, और इस अनिष्ट से भारत के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू हुआ।

मुहम्मद गोरी की मृत्यु के बाद, लेफ्टिनेण्ट कुतुबुद्दीन ऐबक ने गुलाम सल्तनत की स्थापना की। इसके साथ ही दिल्ली सल्तनत अस्तित्त्व में आया। ऐबक के बाद उसके गुलाम इल्तुतमिस का शासन रहा। और उनके बाद उनकी बेटी रजिया ने बहुत अल्प समय के लिए सन् 1236–1239 तक शासन की वागडोर सँभाली। गुलाम सल्तनत के बाद खिलजी, तुगलक, सईद और लोदी सल्तनत चला। इन सल्तनतों के प्रमुख शासक बलबन, अलाउद्दीन खिलजी, और मुहम्मद बिन तुगलक थे।

अलाउद्दीन खिलजी (सन् 1296–1316) बड़े योग्य शासक साबित हुए। दक्षिण में सैन्य आन्दोलन के साथ-साथ बाजार-सुधार और मूल्य नियन्त्रण मानक व्यवस्था के लिए उन्हें प्रमुखता से याद किया जाता है। मुहम्मद बिन तुगलक (सन् 1324–1351) बड़े ही दृष्टि सम्पन्न शासक थे, पर दुर्भाग्यवश उनकी सारी ही योजनाएँ असफल हो गईं। दिल्ली से हटाकर दौलताबाद में राजधानी बनाने की उनकी योजना सर्वाधिक विवादास्पद योजना थी। इन सबके बाद मुगल साम्राज्य के संस्थापक, बाबर (सन् 1526–1530) के हाथों पानीपत की लड़ाई में इब्राहिम लोदी के मारे जाने के बाद दिल्ली सल्तनत का अन्त हो गया। इस काल में पूरे उपमहाद्वीप के नागरिक-जीवन और समाज-व्यवस्था में इस्लामिक पद्धति और प्रशासनिक आचार लागू हो गई और दो विश्वव्यापी सभ्यताओं के बीच सम्वाद स्थापित करने की चकित करने वाली पृष्ठभूमि तैयार हुई। तैमूर और चंगेज खाँ के वंशज बाबर, अपने चचेरों द्वारा मध्य एशिया की अपनी छोटी-सी जागीर से निकाल दिए गए थे, उन्होंने भारत में आकर अपने भाग्य आजमाने की इच्छा की, सन् 1526 में उन्होंने अन्तिम लोदी सुल्तान इब्राहिम को हराया और मुगल साम्राज्य कायम किया। उनके बाद उनके बेटे

हुमायूँ ने गद्दी सँभाली, पर शीघ्र ही अफगानी लड़ाके शेरशाह द्वारा दिल्ली से खदेड़ दिए गए।

शेरशाह ने यद्यपि सन् 1540–1555 तक की अल्प अवधि तक ही शासन किया, पर उन्होंने शासन तन्त्र के अपूर्व कौशल का उदाहरण प्रस्तुत किया। ग्रैण्ड ट्रंक रोड के निर्माता और राजस्व पद्धति के पुनर्संस्थापक के रूप में उन्हें सदैव याद किया जाता रहेगा।

अपने लगन और उत्साह के बल बूते दिल्ली की सत्ता पर फिर से काबिज होने में यद्यपि हुमायूँ सफल हो गए, पर वे अधिक दिनों तक शासन न कर सके, उसी वर्ष उनका देहान्त हो गया। और इसी घटना के साथ भारत के प्रतापी शासक अकबर महान का शासन-काल शुरू हुआ। अकबर (सन् 1556–1605) ने बड़ी दक्षता से पूरे राजनीतिक परिदृश्य को समेकित करते हुए पूरे उत्तर भारत में और दक्षिण के कई भूभागों पर अपना शासन कायम किया। उन्होंने शीघ्र ही अपनी शासकीय समझ विकसित कर ली, और सुनिश्चित किया कि किसी बेहतर और स्थायी शासन-व्यवस्था के लिए समाज के सभी पहलुओं पर गम्भीरतापूर्वक सोचना जरूरी है। इसके मद्देनजर उन्होंने राजपूतों के साथ भी सहकार व्यवस्था कायम की। शहंशाह अकबर ने अपनी इस धारणा का सफलतापूर्वक उपयोग, अपने जीवन और अपनी शासन-व्यवस्था--दोनों में किया, जिसके बड़े अच्छे परिणाम सामने आए।

अकबर के पुत्र जहाँगीर (सन् 1605–1627) सुखमय जीवन-पद्धति के मुरीद थे। समकालीन इतिहासकारों के मतानुसार जहाँगीर के शासन काल में, शाही-व्यवस्था में, उनकी पत्नी नूरजहाँ से सम्बन्धित परसियन कुलीनतावाद बहुत प्रभावशाली था। जहाँगीर के बाद शासन की वागडोर उनके पुत्र शाहजहाँ (सन् 1928–1958) ने सँभाली। शाहजहाँ को स्थापत्य-कला से बहुत प्रेम था। ताजमहल के अलावा लाल किला और जामा मस्जिद का निर्माण उनके स्थापत्य-प्रेम के प्रमुख उदाहरण हैं।

शाहजहाँ के पुत्र औरंगजेब (सन् 1658–1707) एक बहादुर, साहसी और कुशल शासक थे, पर उनका यह सारा गुण उनकी हठधर्मिता, धर्मान्धता और कट्टरता के दोष से ढंक गया था। उनके शासन काल में मुगल साम्राज्य अपने चरम पर पहुँच गया था। पर साथ ही उन्होंने अपनी ऊर्जा और संसाधन का अत्यधिक क्षय मराठाओं और अन्य स्थानीय शासकों एवं जागीरदारों के साथ संघर्ष करने में किया। उनकी मृत्यु के साथ ही मुगल साम्राज्य लड़खड़ाने लगा।

उनके उत्तराधिकारी सुविस्तृत साम्राज्य को सँभालने में कमजोर और अक्षम साबित हुए। चारों ओर से प्रान्तीय जागीरदारों ने स्वाधीनता के दावे के साथ शाही-नुमाइन्दों को चुनौती देना शुरू कर दिया। पश्चिमी भारत में शिवाजी (सन् 1637-1680) ने एक ऊर्जावान सैनिक इकाई के रूप में मराठाओं को संघटित किया, और उसे राष्ट्रीय पहचान के साथ खड़ा किया। उन्होंने मुगलों को शिकस्त देने के लिए गुरल्ला पद्धति की लड़ाई का रास्ता अपनाया। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के दौरान भारत के राजनीतिक परिदृश्य में, मुख्यत: मराठाओं का, पंजाब में सिक्खों का, और मैसूर में हैदरअली (सन् 1721-1782) का वर्चस्व रहा।

विभिन्न राजवंशों और साम्राज्यों के इस संक्षिप्त उल्लेख के साथ यह बहुत स्पष्ट रूप से दिखता है कि न केवल मध्य काल, बल्कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल की प्रवृत्तियाँ भी इतिहास के मध्य-युग (सन् 1200-1857) में परिसीमित हैं। इतिहास की इसी अवधि की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थियों के प्रभाव से तत्कालीन साहित्य और विभिन्न भारतीय भाषाओं की वास्तविक छवि विकसित हुई तथा अस्मिता तय हुई। हर्षवर्द्धन के शासन काल की समाप्ति के साथ ही भारत की राजनीतिक सत्ता में जैसा विघटन हुआ, उसी का परिणाम था कि उत्तर भारत से हिन्दू राज्य-शक्ति लुप्त हो गई और राजपूतों ने तुर्कों को भारत में प्रवेश का अवसर दिया। बारहवीं शताब्दी का अन्त आते-आते उस काल का महान शासक और वीर योद्धा पृथ्वीराज चौहान, मुहम्मद गोरी से परास्त हो गए, भारत के इतिहास में, नागरिक जीवन के परिप्रेक्ष्य और समाज व्यवस्था के फलक में, विचित्रताओं का सूत्रपात यहीं से हुआ। स्थानीय शक्तियों के द्वन्द्व, द्वेष, और दुराव-दुर्भाव के परिणामस्वरूप मुस्लिम शासन की केन्द्रीय शासन-पद्धति विकसित होने लगी। इस परिवर्तन का जनमानस पर घनघोर असर पड़ा। सत्ता और सामन्तों के सम्बन्ध आम नागरिक से दूरस्थ होने लगे। राजनीति के प्रति जन-समाज की उदासीनता अत्यधिक बढ़ गई। जनपदीय गणराज्यों के विनाश और साम्राज्यों की स्थापना के बाद राजभक्ति के रूप में गहराती हुई जनभावना घृणा में परिणत होने लगी। गंगा-यमुना की घाटी में कवियों के राजाश्रय की सम्भावनाएँ समाप्त हो गईं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के राजाश्रित कवियों में चरित-काव्य की वीरगाथा लिखने की जो परम्परा थी, वह राजस्थान में अपभ्रंश और रासो-काव्य के रूप में थोड़ी-बहुत अवशेष के रूप में रह गई। पर, वहाँ भी जनता की भावनाएँ सिरे से गायब थीं। इस तरह के राजनीतिक

पराभव और सामाजिक दुरवस्था की स्थिति से थोड़े समय के लिए साहित्यिक शून्यता दिखने लगी, मगर इसी शून्यता के सन्नाटे को चीड़कर पुनर्जीवी शक्ति का उदय हुआ। तथ्य है कि तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से सोलहवीं शताब्दी की शुरुआत तक एक किस्म की निरंकुश शासन व्यवस्था कायम रही, पर मुगल साम्राज्य के अस्तित्त्व में आते ही धीरे-धीरे सभ्य शासन-व्यवस्था बनने लगी। शहंशाह अकबर की धार्मिक उदारता और सुव्यवस्थित शासन-पद्धति के परिणाम स्वरूप समाज में सर्वांगीण विकास की स्थिति बनी। कला, साहित्य, संस्कृति और ज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं के कौशल को उन्नत करने की दिशा में सत्ता पक्ष की उदारता और सहृदयता देखी गई। अकबर तथा उनके परवर्ती शासकों ने हिन्दी के रचनाकारों को यथेष्ट प्रश्रय दिया, पर उस दौर के साहित्य की अतुलनीय विशेषता के रूप में इसे रेखांकित किया जा सकता है कि उस समय के अधिकांश उत्कृष्टतम रचनाकारों का राजसत्ता से कोई सरोकार नहीं रहा, उस दौर की विशिष्ट रचनाओं का बहुलांश जनकवियों द्वारा ही रचा गया। ध्यातव्य है कि अपने राज्य के मनसबदार के रूप में अकबर ने तुलसीदास को आमन्त्रण दिया था, पर सन्त कवि तुलसीदास ने यह कहते हुए मना कर दिया था कि

हम चाकर रघुबीर कौ, पट्टौ लिखौ लिलार
तुलसी अब का होइहौं, नर के मनसबदार

स्मरणीय तथ्य है कि इतिहास का उत्तर-मध्य युग न केवल राजनीतिक और शासकीय व्यवस्था की दृष्टि से, बल्कि धार्मिक दृष्टि से भी व्याख्येय था। सातवीं से बारहवीं शताब्दी तक का समय भारत में न केवल राजनीतिक सत्ता के विघटन का काल है, बल्कि धार्मिक मान्यता और आस्था के स्खलन का काल भी है। सांस्कृतिक दृष्टि से तो इसे तान्त्रिक काल कहा जाता है। तान्त्रिक गुह्य साधनाओं में शारीरिक भोगवाद की पराकाष्ठा थी। इस चरम प्रवृत्ति से न केवल बौद्ध महायान, और वज्रयान की परम्परा में आए सहजयान आक्रान्त हुआ, बल्कि शैव, शाक्त और वैष्णव मत में भी तन्त्र प्रक्रियाओं का घुसपैठ हो गया था। विस्मयकर लगता है कि एक ही समय में इधर तान्त्रिक भोगवाद की स्थिति अपने चरम पर थी, उसके ठीक विपरीत शंकराचार्य के मायावादी अद्वैतवाद से वैराग्य भाव की धारणाएँ बलवती हो उठी थीं। पर उसी अन्तराल में प्रख्यात विद्वान मण्डन मिश्र के अद्वैत वेदान्त का प्रवृत्ति मार्ग अपने गृहस्थाश्रम के रास्ते भली-भाँति प्रचारित हो रहा था। उधर निवृत्ति मार्ग के प्रवक्ता शंकराचार्य का मानना था ब्रह्म चिन्तन और मुक्ति के लिए संन्यास ही एक मात्र रास्ता है, इधर

प्रवृत्ति मार्ग के समर्थक मण्डन मिश्र का कहना था कि संन्यासियों और वैरागियों को निवृत्ति मार्ग से चलकर मुक्ति मिल जा सकती है, पर गार्हस्थ जीवन व्यतीत करते हुए यदि दान, तप, यज्ञादि का आचरण करते रहें तो मुक्ति और सहजता एवं सरलता से मिल सकती है। इन विस्मयकर परिस्थितियों में ही वज्रयानी सिद्ध-सम्प्रदाय से विकसित नाथ पन्थ के योगियों द्वारा कुछ उद्यम किए जा रहे थे, पर पूरे जनसमुदाय को आन्दोलित करने लायक शक्ति इसमें नहीं थी।

इसी दौरान महत्त्वाकांक्षी मुस्लिम आक्रमणकारियों और धर्मान्ध मुल्लाओं की सांस्कृतिक और धार्मिक कट्टरता के प्रवेश से जनजीवन में कुछ नई परेशानियों का उदय हुआ। जाहिर है कि विभ्रम और परस्पर विरोधी इन परिस्थितियों से आक्रान्त समाज व्यवस्था के नागरिक असमंजस की स्थिति में थे। उन्हें भीतर और बाहर के इन संघर्षपूर्ण स्थितियों से जूझते हुए अपने अस्तित्त्व की रक्षा का सवाल सामने दिख रहा था। जीवन-संग्राम की इन्हीं परिस्थितियों में उस काल के नागरिक ने खुद को पुनर्जाग्रत किया, और भक्ति आन्दोलन के बहाने मानव-मूल्य की प्रतिष्ठा करते हुए समकालीन समस्याओं के समाधान हेतु रास्ता निकाला। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भले कह दें कि 'अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?' पर सचाई यह है कि उस दौर का यह नागरिक-आचरण 'हारे को हरिनाम' नहीं था। वस्तुतः यह तमाम विपरीत परिस्थितियों में भी मनुष्य की जीवनी शक्ति को एक दिशा और आकार देने का उद्यम था।

सही कहा गया है कि 'इस धार्मिक आन्दोलन की कदाचित् सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जहाँ एक ओर ऐसी विविधताएँ और साम्प्रदायिक संकीर्णताएँ दिखाई देती हैं, जिनकी संगति मिलना असम्भवप्राय जान पड़ता है, वहाँ इतनी मूलभूत एकता और व्यापकता है, जो मानवता को ही नहीं, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, जड़-चेतन सभी को एक सूत्र में बाँधकर समेटती चलती है। कारण, यह है कि इसे मात्र तात्कालिक परिस्थितियों ने आपद्धर्म के रूप में जन्म नहीं दिया, वरन् इसकी जड़ें अत्यन्त गहरी, इसकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन तथा इसकी भूमिका अत्यन्त पुष्ट और दृढ़ थी।'

सचमुच, नाथपन्थी अलखवादी जोगियों की परम्परा को व्यापकता देने वाले कबीर, रैदास, नानक, दादू आदि निर्गुण धारा के सन्त, अनलहक के द्रष्टा, सूफियों के अनुयायी, प्रेममार्गी कुतबन, मंझन, जायसी, उसमानय रसावतार

श्रीकृष्ण और रासेश्वरी राधा के कीर्तन करने वाले प्रेमभक्ति के प्रचारक वल्लभ, चैतन्य, हरिवंश, हरिदास, सूरदास, नन्ददासय मर्यादा पुरुषोत्तम पूर्णब्रह्म राम और जगज्जननी सीता के उपासक, मर्यादा-भक्ति के प्रतिष्ठापक तुलसीदासय प्रेम और भक्ति के समन्वयक और शैव्य, शाक्त, वैष्णव-सभी धाराओं को रेखांकित करने में अग्रणी विद्यापति, सब के सब सांसरिक भोग-विलास को जीवन की सार्थकता-निरर्थकता की कसौटी में अपनी तरह से व्याख्यायित करते हुए प्रवृत्ति और निवृत्ति के यथोचित सामंजस्य द्वारा आध्यात्मिकता और इहलौकिकता की धरातल पर रेखांकित कर रहे थे। प्रवृत्ति और निवृत्ति के पारस्परिक द्वैध को किसी सूत्र से भरने का उद्यम कुछ अलग अर्थों में सूर और बिहारी के यहाँ भी दिखता है। पूरे भारत के फलक पर देखें तो अन्य भाषा-भाषी जनवृत्त के भक्त कवियों के यहाँ भी मानव जाति की इस जीवनी-शक्ति का उद्यम दिखता है। भक्ति आन्दोलन के काव्य में सांसारिक वैभव के प्रदर्शन और धार्मिक पाखण्ड का घटाटोप नहीं, बल्कि उन सब के यहाँ जीवन की बाह्याभ्यन्तर शुद्धता और निर्मलता पर बल है। यहाँ वसुधैव कुटुम्बकम की कसौटी पर प्रेम के विविध भावों के उदात्त स्वरूप की प्रतिस्थापना दिखती है, शास्त्रीय मर्यादा से बाहर आकर, वर्णाश्रम व्यवस्था से अलग होकर, बिखराव भरे सामाजिक जीवन को पुनर्संघटित करने का उत्साह और स्फूर्ति भरने का उद्यम यहाँ दिखता है। भक्ति आन्दोलन के दौर में जीवन की समग्रता से भरी काव्य दृष्टि दिखती है, जहाँ मनुष्य जाति को जीवन जीने का मार्ग दिखाया गया है, समाज से वर्गभेद मिटाकर उच्च वर्ग से निम्न वर्ग तक में चेतना की नई लहर, जीवन के प्रति उमंग, उल्लास और उत्साह भरा हुआ-सा दिखता है, सुसुप्त क्रियात्मक शक्तियाँ प्राणवेग से जाग्रत हुई दिखती हैं, कला-साहित्य-संगीत के सृजन की लोकोन्मुख प्रवृत्तियाँ दिखती हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो मध्य युग के भक्ति-काव्य की प्रवृत्तियों की प्रेरक शक्तियों के रूप में मुस्लिम आक्रमण से उत्पन्न राजनीतिक पराभव और सांस्कृतिक विध्वंस को रेखांकित किया है। उनकी राय में इन परिस्थितियों के परिणामस्वरूप समाज में फैली निराशा और हताशा बड़ी त्रासद थी। उनकी धारणा को आधार मानकर बाद के दिनों में जितने भी ग्रन्थ लिखे गए, उनके कारण भी यह धारणा बद्धमूल हो गई कि भक्ति साहित्य अपने समय के आक्रमणों से आकान्त समाज की हताश वृत्तियों का चित्रण है। पर बाद के समय में हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे कुछ मनीषियों ने इस धारणा का खण्डन किया।

सचाई है कि उक्त आक्रमण से जैसा राजनीतिक पराभव और सांस्कृतिक विध्वंस हुआ, उसका असर समाज के मनोभाव पर था, और कदाचित भक्ति-आन्दोलन के लिए उन परिस्थितियों ने ही पृष्ठभूमि तैयार की। जैसा कि पूर्व में कहा गया, वे परिस्थितियाँ 'हारे को हरिनाम' वाली नहीं थी, उसका उत्स हताशा और नकार भाव की जमीन पर नहीं था, उसकी भावभूमि प्रति-रक्षात्मक कदापि नहीं थी, वह पूरी तरह सकारात्मक, सृजनात्मक, और धनात्मक भाव से शुरू हुई थीं। हताशा से उठी हुई प्रति-रक्षात्मक धारणाएँ इतनी बलवती कभी नहीं हो सकती थीं, इतना सुसम्बद्ध, उत्साहपूर्ण और सकारात्मक तो हो ही नहीं सकती थी। प्रति-रक्षा के प्रयाण में हर-हमेशा भयाकुल भाव समाया रहता है, जबकि भक्ति-आन्दोलन जीवनी-शक्ति के उल्लास और सुसम्बद्धता से भरा हुआ और सकारात्मक सोच से पूरिपूर्ण दिखता है।

इतिहास के इस उत्तर-मध्य युग में धर्म और भक्ति की धारणाओं से शुरू हुआ आन्दोलन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आन्दोलन था, जिसका सीधा सम्बन्ध सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यवस्थितियों से था। इसे भक्तिकाल कहा गया। आधुनिक आर्य भाषाओं के माध्यम से इस आन्दोलन का प्रचार-प्रसार किया गया। जाहिर है कि हिन्दी उसका मुख्य आधार हुआ। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इसे मध्यकाल कहा जाता है, और इसकी अवधि चौदहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक मानी गई है। वैसे काल-निर्धारण में जाएँ, तो फिर से बखेड़ा खड़ा हो जाएगा, क्योंकि आचार्य शुक्ल पूर्व-मध्यकाल (भक्तिकाल) का समय सम्वत् 1375-1700, अर्थात् सन् 1318-1643 बताते हैं। यदि कबीर से भक्तिकाल की शुरुआत मानें, तो यह निर्धारण मुश्किल होगा, क्योंकि कबीर का जन्म सन् 1398 और मृत्युकाल सन् 1518 माना जाता है। पर आचार्य शुक्ल भक्तिकाल का सामान्य परिचय देते हुए वज्रयानी सिद्धों और कापालिकों के देश के पूरबी भागों में और नाथपन्थी योगियों के पश्चिमी भागों में फैलने की स्थिति का विस्तार से परिचय देते हैं और इस संशय को पहले ही मिटा देते हैं। वज्रयानी सिद्धों और नाथपन्थी जोगियों के विधि-विधान, तीर्थाटन, पर्वस्नान आदि के द्वारा निस्सारता का संस्कार फैलाने का जो उद्यम किया जा रहा था, आचार्य शुक्ल के अनुसार वह जनता की दृष्टि को आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण के सच्चे कर्मों की ओर ले जाने के बजाय उन्हें कर्म क्षेत्र से हटा रहा था। उनके अनुसार, सच्चे धर्मभाव का ह्रास इस तरह हो गया था कि प्रतिवर्तन के लिए किसी जोरदार धक्के-धमाके की जरूरत थी।

शास्त्राज्ञ विद्वानों की धारणाओं पर उनकी बानियों का कोई प्रभाव नहीं हो रहा था। वे अपनी ही मान्यताओं के साथ शास्त्रार्थ और खण्डन-मण्डन में रत थे। फलस्वरूप पारम्परिक भक्तिमार्ग के सिद्धान्तों के कई नूतन रूपों का विकास भी हुआ। इधर सच्चे शुभकर्मो के रास्ते सहज भगवत्भक्ति में लगे रहने के बजाय, वज्रयानियों और नाथपन्थियों की बानियों के प्रभामण्डल में आकर जो सामान्य जनता मन्त्र, तन्त्र उपचारों में उलझने लगी थी और अलौकिक सिद्धियों में, गुह्य-रहस्य में, बाह्य जगत को छोड़कर घट के भीतर में जाने का जैसा रहस्यमय पाठ उन्हें पढ़ाया जाने लगा था, उस दौर के कालदर्शी कवियों ने जनता की दबी हुई भक्ति को जगाने का यत्न किया और क्रमशः भक्ति का प्रवाह प्रबल वेग से विकसित होता गया। यह प्रवाह इतना संवेगात्मक साबित हुआ कि उस दौर की न केवल हिन्दू जनता, बल्कि देश में बसे न जाने कितने मुसलमान इस धारा में आ गए। आचार्य शुक्ल ने स्पष्ट कहा कि 'प्रेमस्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों--दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया...।' उन्होंने आगे कहा कि 'भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे-धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था, उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला।'

सचाई भी है कि रामानुजाचार्य (सन् 1016) द्वारा निरूपित शास्त्रीय पद्धति की सगुण भक्ति जनता को अत्यधिक आकर्षित करने लगी थी, गुजरात में मध्वाचार्य (सन् 1197-1276) के द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय की ओर कुछ लोग आकर्षित हुए थे, इधर देश के पूरबी भागों में जयदेव और कवि कोकिल विद्यापति (सन् 1380-1460) के राधा-कृष्ण विषयक प्रेमगीतों की गूँज फैलने लगी थी। रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा के सुप्रसिद्ध आचार्य रामानन्द (सन् 1400-1470) को रामभक्ति का प्रथम आचार्य कहा जाता है। अन्य विद्वानों की तरह उनके जीवनकाल और जन्म-स्थान के सम्बन्ध में भी मतैक्य का अभाव है, पर इस बात पर आम सहमति है कि राम-उपासना की प्रखर धारा चलाकर उन्होंने रामभक्ति का सम्प्रदाय खड़ा किया। उन्हीं की प्रेरणा से मध्ययुग में तथा उसके बाद के समय में रामभक्ति-साहित्य की विपुल रचना हुई। परवर्ती काल के दो विराट सन्त कवि कबीर और तुलसी--दोनों की यशःकीर्ति का सम्बन्ध-सूत्र उनके द्वारा संस्थापित भक्ति-धारा से मिलता है। तथ्य है कि उन्होंने स्त्री और शूद्र--दोनों के लिए भक्ति का द्वार खोला, फलस्वरूप मध्यकाल की

वैचारिकता में उदारता का भाव और अधिक बढ़ा। उन्हीं की उदारता के कारण हिन्दू और मुसलमानों के बीच निकटता बढ़ी। रामानन्द को अपना आदर्श और प्रेरणा-स्रोत मानने वाले अधिकांश सन्त कवि मुसलमान ही हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'उत्तर या मध्य भारत में एक ओर तो ईसा की 15वीं शताब्दी में रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में स्वामी रामानन्द जी हुए जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर जोर दिया और एक बड़ा भारी सम्प्रदाय खड़ा किया, दूसरी ओर वल्लभाचार्य जी ने प्रेममूर्ति कृष्ण को लेकर जनता को रसमग्न किया। इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक भक्तों की परम्पराएँ चलीं जिनमें आगे चलकर हिन्दी काव्य को प्रौढ़ता पर पहुँचाने वाले जगमगाते रत्नों का विकास हुआ। इन भक्तों ने ब्रह्म के 'सत्' और 'आनन्द' स्वरूप का साक्षात्कार राम और कृष्ण के रूप में इस बाह्य जगत् के व्यक्त क्षेत्र में किया।'

गौरतलब है कि दक्षिण भारत से उत्तर की ओर आकर जड़ जमाई हुई भक्ति की इस भावना ने नया अलख जगाया। 'गुह्य' और 'रहस्य' से बाहर आकर लोग सहज भक्ति में रसमग्न होने लगे। जाति भेद, सम्प्रदाय भेद, लिंगभेद का बन्धन टूटा। सम्प्रदाय भेद से ऊपर उठकर महाराष्ट्र के सुविख्यात सन्त नामदेव (सन् 1271-1351) ने सामान्य भक्तिमार्ग चलाया। इनके बाद कबीर आए, और पूरी तत्परता से उन्होंने व्यस्थित रूप से निर्गुणपन्थ शुरू किया। निराकार ईश्वर की अवधारणा में उन्होंने भारतीय वेदान्त और सूफी प्रेमतत्त्व का समन्वय कर 'निर्गुण पन्थ' चलाया। श्रद्धा और प्रेम के योग से उत्पन्न भक्ति का यह रूप चल पड़ा। आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'यह सामान्य भक्तिमार्ग एकेश्वरवाद का एक अनिश्चित स्वरूप लेकर खड़ा हुआ, जो कभी ब्रह्मवाद की ओर ढलता था और कभी पैगम्बरी खुदावाद की ओर। यह निर्गुण पन्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसकी ओर ले जानेवाली सबसे पहली प्रवृत्ति जो लक्षित हुई, वह ऊँच-नीच और जात-पाँत के भाव का त्याग, ईश्वर भक्ति के लिए मनुष्य मात्र के समान अधिकार का स्वीकार था। इस भाव का सूत्रपात भक्तिमार्ग के भीतर महाराष्ट्र और मध्य देश में नामदेव और रामानन्द जी द्वारा हुआ। ये दक्षिण के नरुसीबमनी (सतारा जिला) के दरजी थे।.. महाराष्ट्र के भक्तों में नामदेव का नाम सबसे पहले आता है। मराठी भाषा के अतिरिक्त इनकी हिन्दी रचनाएँ भी प्रचुर परिमाण में मिलती हैं। इन हिन्दी रचनाओं में एक विशेष बात यह पाई जाती है कि कुछ तो सगुणोपासना से सम्बन्ध रखती हैं और कुछ निर्गुणोपासना से। इसके समाधान के लिए इनके समय की परिस्थिति की ओर ध्यान देना आवश्यक है।'

जाहिर है कि यह परिस्थिति हर समय के, मनुष्य मात्र के लिए नियामक शक्ति बन जाती है। समकालीन परिस्थितियाँ ही एक ऐसा घटक है, जो किसी कालजयी व्यक्ति की अपराजेय क्षमता और बुद्धि-विवेक को उद्‌बुद्ध करती हुई उसे अपनी मान्यताओं के साथ खड़े होने में सहयोग करती है। हर समय के चिन्तकों की अवधारणा को उसके अतीत की घटनाएँ प्रभावित करती हैं। यह प्रभाव नामदेव पर भी पड़ा, ज्ञानदेव पर भी और कबीर पर भी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता एकदम से तर्कसम्मत है कि 'सगुणोपासक भक्त भगवान विष्णु के सगुण और निर्गुण दोनों रूप मानता है, पर भक्ति के लिए सगुण रूप ही स्वीकार करता है, निर्गुण रूप ज्ञानमार्गियों के लिए छोड़ देता है।' अपने इसी तर्क के आधार पर आचार्य शुक्ल, भक्त नामदेव को उनकी हिन्दी रचनाओं के हवाले से सगुण और निर्गुण--दोनों ही धारा में देखते हैं। पर वे कहते हैं कि 'निर्गुण मार्ग के निर्दिष्ट प्रवर्तक कबीरदास ही थे जिन्होंने एक ओर तो स्वामी रामानन्द जी के शिष्य होकर भारतीय अद्वैतवाद की कुछ स्थूल बातें ग्रहण कीं और दूसरी ओर योगियों और सूफी फकीरों के संस्कार प्राप्त किए। वैष्णवों से उन्होंने अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद लिए। इसी से उनके निर्गुणवाद वाले दूसरे सन्तों के वचनों में कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है तो कहीं योगियों के नाड़ी चक्र की, कहीं सूफियों के प्रेमतत्त्व की, कहीं पैगम्बरी कट्टर खुदावाद की और कहीं अहिंसावाद की। अतः तात्विक दृष्टि से न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते है और न एकेश्वरवादी। दोनों का मिला-जुला भाव इनकी बानी में मिलता है। इनका लक्ष्य एक ऐसी सामान्य भक्ति पद्धति का प्रचार था, जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों योग दे सकें और भेदभाव का कुछ परिहार हो। बहुदेवोपासना, अवतार और मूर्तिपूजा का खण्डन, ये मुसलमानी जोश के साथ करते थे और मुसलमानों की कुरबानी (हिंसा), नमाज, रोजा आदि की असारता दिखाते हुए ब्रह्मज्ञानी बनकर करते थे। सारांश यह कि ईश्वर-पूजा की उन भिन्न-भिन्न बाह्य विधियों से ध्यान हटाकर, जिनके कारण धर्म में भेद-भाव फैला हुआ था, ये शुद्ध प्रेम और सात्विक जीवन का प्रचार करना चाहते थे।

निर्गुण धारा की इस भक्ति की दो शाखाएँ स्पष्टतया निर्दिष्ट होने लगी थीं--पहली शाखा ज्ञानाश्रयी थी, तथा दूसरी शाखा प्रेमाश्रयी। ज्ञानाश्रयी शाखा भारतीय ब्रह्मज्ञान और योगसाधना को लेकर आगे बढ़ी, जिसमें मौके-बेमौके सूफियों के प्रेम-तत्त्व भी आते रहे, जबकि प्रेमाश्रयी शाखा शुद्ध रूप से सूफी

कवियों की प्रेममार्गी शाखा हुई। ज्ञानाश्रयी शाखा में बहुदेवोपासना और मूर्तिपूजा के खण्डन के भाव स्पष्टतया परिलक्षित हुए। इस शाखा की रचनाओं की भाषा-शैली अधिकतर अव्यवस्थित देखी गई। तथ्य है कि इस शाखा का कोई भी प्रभाव उस काल की शिक्षित जनता पर नहीं पड़ा, क्योंकि यहाँ उनके लिए कोई आकर्षक बात नहीं दिखती थी। इस प्रसंग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साफ-साफ लिखा कि 'संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता। पर अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता पर इन सन्त महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है। उच्च विषयों का कुछ आभास देकर, आचरण की शुद्धता पर जोर देकर, आडम्बरों का तिरस्कार करके, आत्मगौरव का भाव उत्पन्न करके, इन्होंने इसे ऊपर उठाने का स्तुत्य प्रयत्न किया।'

इस उद्धरण और इस धारा के सामाजिक सार्वजनिक प्रभाव के मद्देनजर इस बात का उल्लेख महत्त्वपूर्ण होगा कि तथाकथित अशिक्षित और निम्नश्रेणी जनता का सामाजिक सरोकार और महत्त्व सुनिश्चित करने में इसका प्रबल योगदान था। इसके साथ-साथ सगुण धारा के साधक कवियों ने प्रेमतत्त्व पर बल देते हुए प्रेम के आलम्बन, ईश्वर से मिलने की कथा कहना शुरू किया। लौकिक प्रेम की कथा के सहारे यहाँ अपने प्रियतम, ईश को प्राप्त करने के क्रम में सामने आए तमाम बाधाओं को झेलते हुए, प्रेम की पीड़ा का बखान करते हुए, लोकोत्तर प्रेम में परिणति दिखती थी।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में निर्गुण धारा के प्रमुख कवि कबीर दास, रैदास, गुरूनानक, दादूदयाल, मलूकदास आदि हैं। निर्गुण धारा के प्रेममार्गी साधकों में कुतबन, मंझन, मलिक मुहम्मद जायसी आदि गिने जाते हैं। सगुण भक्ति के प्रमुख कवि हैं--रामानन्द, गोस्वामी तुलसीदास, नाभादास, वल्लभाचार्य, सूरदास, नन्ददास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, मीराबाई, रसखान आदि।

उल्लेखनीय है कि हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल केवल साहित्य-सृजन की दृष्टि से ही नहीं सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक सक्रियता, और कलात्मक अभिव्यक्ति... हर दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सच कहा जाता है भक्ति आन्दोलन ऐसा आन्दोलन साबित हुआ जिसने पूरे देश में भावनाओं का एक समवेत उच्छ्वास उत्पन्न किया, इस धारा के समस्त युगनिर्माता कवियों की रचनाओं से पूरे भारतवर्ष में समतुल्य भाव-धारा आन्दोलित हो उठी। महान चिन्तक ग्रियर्सन ने

स्पष्ट रूप से घोषित किया कि 'हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं, जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है, यहाँ तक कि बौद्ध धर्म के आन्दोलन से भी अधिक विशाल है, क्योंकि इनका प्रभाव आज भी वर्तमान है। इस युग में धर्म, ज्ञान का नहीं बल्कि भावावेश का विषय हो गया था। यहाँ से हम रहस्यवाद और प्रेमोल्लास के देश में आते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं, जो काशी के दिग्गज पण्डितों की जाति के नहीं, बल्कि जिनकी समता मध्य युग के यूरोपियन भक्त बर्नार्ड आव क्लेयर बाक्स, थामस ए. केम्पिस और सेण्ट थेरेससे हैं ।' वैसे कुछ मत इस प्रकार भी हैं कि प्रारम्भिक काल में ही पश्चिमी समुद्र पर आ बसे अरब नागरिकों के कारण फैले इस्लामी प्रभाव की यह देन है, या फिर मुसलिम आक्रमणकारियों के अत्याचारों से उत्पन्न सामाजिक दुर्व्यवस्था से आंतकित भारतीय नागरिक के मन में उमड़ी हीनताबोधक भावनाओं की प्रतिच्छवि है, पर इस विषय पर तर्क सम्मत व्याख्या देते हुए प्रो. सतीशचन्द्र ने अपनी पुस्तक 'मध्यकालीन भारत में इतिहासलेखन, धर्म और राज्य का स्वरूप' में संकलित आलेख 'उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन के उदय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि' में विस्तार से चर्चा की है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि 'देश में ईसा पूर्व छठी और ईसा के बाद दूसरी सदियों के मध्य बौद्ध धर्म के उदय और विकास के बाद, मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन भारत का सर्वाधिक व्यापक, बड़ा, और बहुआयामी आन्दोलन था। भक्ति-आन्दोलन ने समय-समय पर लगभग पूरे देश को प्रभावित किया और उसका धार्मिक सिद्धान्तों, धार्मिक अनुष्ठानों, नैतिक मूल्यों और लोकप्रिय विश्वासों पर ही नहीं, बल्कि कलाओं और संस्कृति पर भी निर्णायक प्रभाव पड़ा। बदले में इन्होंने मध्यकालीन राज्य और शासक वर्गों के नैतिक ढाँचे पर अपना प्रभाव डाला। कुछ क्षेत्रों में इसके विकास की एक खास अवस्था में, मुगल राज्य के केन्द्रण का विरोध करने वाले तत्त्वों ने भक्ति आन्दोलन को एक प्लेटफॉर्म के रूप में इस्तेमाल करने की कोशिश की। सांस्कृतिक क्षेत्र में, क्षेत्रीय भाषाओं, संगीत, नृत्य, चित्रकला, शिल्पकला इत्यादि के विकास का भक्ति आन्दोलन से निकट सम्बन्ध रहा।'

वैसे विचारणीय बिन्दु यह भी है कि अपने इस वक्तव्य के तत्काल बाद प्रो. सतीश चन्द्रा ने इस आन्दोलन को मुक्त कण्ठ से जन-आन्दोलन स्वीकार नहीं किया। उनका मत है कि इस आन्दोलन का उद्देश्य प्रत्यक्ष रूप से जनसाधारण के जीवन की परिस्थितियों में परिवर्तन लाने के बजाय ईश्वर से रहस्यात्मक

मिलन का था। और, यहाँ मार्ग-दर्शक अथवा गुरू की सहायता से मुक्ति अथवा ईश-सान्निध्य प्राप्त करने हेतु अपेक्षित दैवी कृपा पर बल दिया गया था। पर इतना तय है कि मोक्ष कामना, ब्रह्मसिद्धि, और ईश मिलन की इस भावना के आन्दोलनात्मक प्रचार-प्रसार के कारण पूरे भारतवर्ष में बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी आते-आते ऐसी स्थिति बनी कि एक रोचक लोकप्रिय भावनाओं की अभिव्यक्ति होने लगी। सचाई यह भी है कि इस भक्तिभाव के उदय और समाज के सामान्य नागरिक जीवन में संयोजकीय शक्ति के अँखुवे उस दौर के वर्ग विभेद के कारण भी फूटे थे। इस भावना का क्षेत्र इतना व्यापक हो गया कि इसमें विभिन्न वर्ग, समुदाय और पृष्ठभूमि के स्त्री-पुरुष, अपने तमाम वर्गभेद की धारणाओं को त्यागकर एकत्रित होने लगे। इस उद्यम के साथ आम नागरिकों के बीच उस संयोजन-सूत्र का विकास हुआ, जो मानवतावादी आचरण को बल देता था। इस पर समन्वय और नई सामाजिक-संरचना के उद्‌भव से उनमें संघर्ष करने की ऐसी शक्ति विकसित हुई, जिसके बल बूते वे उन तानाशाहों का डटकर सामना करने लगे, जिन्होंने उनके जीवन को असहज बनाने की व्यवस्था रच दी थी। भक्ति आन्दोलन की इस विशिष्टता के मद्देनजर उस दौर के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक परिदृश्यों का अवलोकन-विवेचन जरूरी प्रतीत होता है।

स्वीकृत तथ्य है कि ईसा पूर्व पहली शताब्दी से ही बौद्ध धर्म के समर्थकों में किंचित मतभेद हो गया था। वैशाली-संगीति में पश्चिमी तथा पूर्वी बौद्ध अलग-अलग हो गए थे। उन्होंने त्रिपिटक में कुछ परिवर्तन भी किया था। पूर्वी शाखा को महासन्धि का नाम दिया गया जिसे आगे चलकर महायान कहा गया। इस महायान का अभिप्राय श्रेष्ठ और प्रशस्त मार्ग था, जिसे हीनयान से बढ़कर माना जाता था। तथ्य है कि बौद्ध धर्म की प्रारम्भिक शाखा को हीनयान की संज्ञा से जाना जाता है। शाब्दिक अर्थ लगाने पर इसकी ध्वनियाँ भले हीन भाव की तरफ ले जाएँ, पर सचाई है कि इस हीन प्रणाली का उपयोग बौद्ध भिक्षुगण मोक्ष के लिए करते थे। पाली-साहित्य में इसका व्यवहार एक शाखा रूप में ईसा पूर्व 250 तक होता रहा। पर इस्वी सन् की पहली शताब्दी आते-आते जब बौद्ध दार्शनिकों के बीच विवाद शुरू हुआ और पाली के स्थान पर संस्कृत का वर्चस्व बढ़ने लगा, तब संस्कृत समर्थकों ने इस हीनयान को तिरस्कार भाव से देखना शुरू किया और इसके शाब्दिक अर्थ के मद्देनजर दुर्वचन के लिए इसका प्रयोग शुरू कर दिया। कहना कठिन है कि वस्तुतः महायान की शुरुआत कब हुई, पर सचाई है कि महायानियों ने खुद को श्रेष्ठ घोषित करते हुए इस प्राचीन

मतावलम्बियों को हीनयानी कहना शुरू कर दिया। वैसे हीनयानी और महायानी भिक्षुओं के बीच के तात्विक भेद और सामाजिक सरोकार को स्पष्टता से रेखांकित करना थोड़ा मुश्किल है, क्योंकि दोनों एक ही संघ में रहते थे, एक ही 'विनय' का पालन करते थे। वैसे तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने लिखा है कि दूसरी शताब्दी में कनिष्क के पुत्र के राज्य में महायान का प्रचुर प्रचार-प्रसार हो गया था।

महायान-धर्म पूजा की भावना से जनता में लोकप्रिय होता गया तथा लोग उसकी ओर आकर्षित होते गए। बुद्ध तथा बोधिसत्व की प्रतिमाएँ तैयार होने लगीं। गान्धार शैली में बौद्ध मूर्तियाँ निर्मित होने लगीं। बुद्ध को योगी और भिक्षुक के रूप में तथा बोधिसत्व को राजकुमार के वेष में (वस्त्रालंकारयुक्त) दिखलाया गया। भारतवर्ष में धर्म और कला का गहरा सम्बन्ध रहा है। शुरू से ही कलाकार लोग अपनी कलाओं में धर्म की अभिव्यक्ति करते रहे हैं। और, उन्हीं अभिव्यक्तियों में अक्सर सामाजिक चित्तवृत्ति का प्रतीक भी संचित होता रहा। बौद्धकला का जन्म धर्म को ही आधार मानकर हुआ, जिसमें कलाविदों ने बाद के दिनों में प्रतीकों का भरपूर प्रयोग किया।

एक बार फिर थोड़ा पीछे चलकर देखते हैं कि जिन दिनों ब्राह्मण ग्रन्थों के हिंसाप्रधान यज्ञों की प्रतिक्रिया में बौद्ध-जैन सुधार आन्दोलन चल रहे थे, उससे भी पहले ईसा पूर्व 600 के आस-पास एक उपासना प्रधान सम्प्रदाय विकसित हो रहा था। प्रारम्भ में यह उपासना वृष्णि-वंशीय क्षत्रियों की खास जाति तक सीमित थी, जो शूरसेन, अर्थात आधुनिक ब्रज में बसने वाले सात्त्वत जाति के थे। सात्त्वतों के भ्रमण और स्थानान्तरण के परिणामस्वरूप यह धारा पश्चिम की ओर भी फैली। इस सम्प्रदाय ने वैदिक परम्परा का विरोध नहीं किया, बल्कि अपने अहिंसात्मक धार्मिक रवैये को वेदसम्मत बताया। जाहिर है कि इनकी प्रवृत्ति बौद्धों और जैनों के सुधार-आन्दोलन की तरह खण्डनात्मक और प्रचारात्मक नहीं थी, इसकी कोई वैसी धूम भी नहीं मचाई जा रही थी। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में वासुदेवोपासक के होने के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। ईसा-पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी से लेकर पहली शताब्दी तक प्राचीन साहित्य और पुरातत्त्व सूचना के आधार पर इसके उल्लेख मिलते हैं। वासुदेव और बलदेव तो जैनों के शलाका-पुरुष माने गए हैं, प्राचीन जैन-बौद्ध साहित्यों में भी इनका उल्लेख है। प्राचीन तमिल साहित्य में वासुदेव के अनेक सन्दर्भ मिलते हैं। इन साक्ष्यों के मद्देनजर सहज अनुमान किया जा सकता है कि

वैदिक पुरुवंश के एक जाति विशेष के ये लोग मगध के राजा जरासन्ध से आक्रान्त होकर कुरुपांचाल के सूरसेन प्रदेश से पश्चिमी सीमान्त प्रदेश की ओर पलायन कर गए थे। रास्ते में इनमें से कुछ लोग मालवा और उसके दक्षिण में बस गए और वहीं से कोंकण आदि में फैल गए। इनमें से कुछ लोग और दक्षिण चले गए। इसका अनुमान इस बात से भी सहज हो जाता है कि सात्त्वत जाति के लोग भी पशुपालक क्षत्रिय ही थे और दक्षिण के अण्डार, इडैयर जाति के लोग भी पशुपालक अहीर थे, या फिर आभीरों के समकक्ष थे। 'एतरेय ब्राह्मण' में उल्लेख है कि दक्षिण के सात्त्वतों ने इन्द्र का अभिषेक किया। स्पष्ट है कि सात्त्वतों का दक्षिण में आगमन उससे पूर्व ही हो चुका था और वे अपनी धार्मिक परम्पराओं के साथ ही वहाँ पहुँचे होंगे, इस तथ्य को सहजता से स्वीकार करने में तो कतई कोई दुविधा नहीं होनी चाहिए।

भागवत धर्म को ही वैष्णव धर्म अथवा वैष्णव सम्प्रदाय कहते हैं। जिसके उपास्य-देव वासुदेव हैं। ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य, ऐश्वर्य और तेज--इन छह गुणों से सम्पन्न होने के कारण उन्हें भगवान, या भगवत् कहा गया और भगवत के उपासक भागवत हुए। इस भागवत धर्म का प्रारम्भ भी क्षत्रियों द्वारा ही हुआ। एक अब्राह्मण उपासना मार्ग के रूप में शुरू हुआ यह सम्प्रदाय, अवैदिक मतों की नई धूम को देखकर ब्राह्मणों द्वारा अपना लिया गया, फलस्वरूप वैष्णव और नारायणीय धर्म के रूप में उसका विधिवत संघटन हुआ। महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीय उपाख्यान में इस नवीन धर्म का उल्लेख वैष्णव यज्ञ के रूप में हुआ और इसे यज्ञ प्रधान वैदिक कर्मकाण्ड के प्रवृत्ति मार्ग के विपरीत निवृत्ति मार्ग का बताया गया। इस वैष्णव यज्ञ में स्पष्टत: पशुवध का निषेध तथा तप, सत्य, अहिंसा और इन्द्रियनिग्रह का विधान किया गया। महाभारत में वासुदेव को वैदिक देवता विष्णु से अभिन्न और कृष्ण को द्वितीय वासुदेव के रूप में उनका अवतार माना गया। हरिवंश तथा अनेक पुराणों में भी कृष्ण को द्वितीय वासुदेव के रूप में स्वीकारा गया है। इस तरह स्पष्ट संकेत है कि सात्त्वतों के कुलधर्म को महाभारत और पुराणों में व्यापक लोकधर्म की स्वीकृति मिल गई थी। चौथी पाँचवीं शताब्दी में गुप्तवंश के राज्यकाल में वैष्णव धर्म को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। पर गुप्तवंश की उदार धार्मिक नीति के कारण शैव और बौद्धधर्म को भी उन्नत होने का पर्याप्त अवसर मिला। इस तरह ईसा पूर्व 600 से लेकर सन् 500 तक के अन्तराल में भागवत धर्म का पर्याप्त साहित्य तैयार हुआ।

छठी से चौदहवीं शताब्दी की लगभग समाप्ति तक उत्तर भारत में भागवत धर्म का उस तरह विकास नहीं हो सका। लोक रुचि के मद्देनजर कहा जा सकता है कि वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म में एक प्रतिस्पर्द्धा-सी थी। इसी प्रतिस्पर्धा में इधर बौद्ध धर्म ने वैष्णव धर्म की अनेक बातें अपना लीं, उधर लोक विश्वासों और लोक प्रथाओं को अपनाते हुए उसकी मौलिकता शेष होने लगीं। पौराणिक धर्म और शंकराचार्य के उद्यमों से भी बौद्ध धर्म आहत होता गया। इसी दौरान दक्षिण भारत में भागवत धर्म का उत्कर्ष होता रहा। नौवीं शताब्दी तक दक्षिण में जिस आलवार भक्तों की धारा अविच्छिन्न रही, उसमें अण्डाल नाम की एक प्रसिद्ध भक्तिन हुई। इन्हीं भक्तों ने विष्णु के अवतार राम और कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम का भाव दिखाया और दास्य, वात्सल्य और माधुर्य भक्ति का स्वरूप स्पष्ट किया।

इस वैष्णव सम्प्रदाय में रामानुजाचार्य(सन् 1016-1137) को सर्वाधिक प्रसिद्ध माना जाता है। बल्कि उनके द्वारा प्रवर्तित भक्ति धर्म को श्रीवैष्णव कहा जाता है। उनके उपास्य लक्ष्मी-नारायण हैं और ऐसा विश्वास किया जाता है कि वस्तुतः इसका प्रवर्तन स्वयं लक्ष्मी जी ने किया। रामानुजाचार्य ने ब्रह्मसूत्र का श्रीभाष्य भी लिखा। रामानुज की मृत्यु के सौ वर्षों के भीतर ही दक्षिण में एक आचार्य हुए मध्व। माध्व मत उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मध्वाचार्य ने भक्ति के प्रचारार्थ ब्रह्म सम्प्रदाय की स्थापना की। मायावाद, अद्वैतवाद का खण्डन करते हुए उन्होंने भक्ति का जो मार्ग प्रशस्त किया, उससे दक्षिण में, खासकर कर्नाटक और दक्षिण महाराष्ट्र में कृष्ण भक्ति का व्यापक प्रचार हुआ। बंगाल का गौड़ीय सम्प्रदाय भी माध्व मत की एक शाखा माना जाता है। उसी काल के आस-पास दक्षिण के एक और आचार्य निम्बार्क हैं। रामगोपाल भण्डारकर इनका काल बारहवीं शताब्दी मानते हुए उनकी मृत्यु सन् 1162 में बताते हैं। कहा जाता है कि वे तैलंग ब्राह्मण थे। पर दक्षिण में इनकी कोई परम्परा नहीं मिलती, उनके सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र वृन्दावन दिखता है। इन तीन आचार्यों के अलावा आचार्य विष्णुस्वामी की चर्चा होती है। भक्तमाल के हवाले से भण्डारकर ने उन्हें तेरहवीं शताब्दी का अनुमानित किया है, पर यह निर्णय करना कठिन है कि उस काल में प्रसिद्ध इस नाम के तीन भक्तों में से कौन क्या थे। बहरहाल ...दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक की भक्ति धारा का यह स्वरूप धीरे धीरे इतना वेगवान अवश्य हो गया कि एक शास्त्रीय रूप धारण कर उत्तर की ओर आया और महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, मध्य प्रदेश, मगध, उत्कल, असम और बंगाल के विस्तृत भूभाग में फैलकर लोकधर्म की व्यापकता हासिल कर ली।

उत्तर भारत में इसके नवल रूप के प्रथम और सर्वाधिक प्रभावशाली भक्त स्वामी रामानन्द माने जाते हैं। उनकी मान्यता दाक्षिणात्य वैष्णवों की तरह उतनी कठोर नहीं थी। उन्होंने लक्ष्मी-नारायण की जगह सीता-राम को अपना उपास्य माना। उनकी दो शिष्य परम्पराएँ थीं--एक में निम्न जाति के लोग थे तो दूसरी में सवर्ण लोग।

भारत के सांस्कृतिक सन्दर्भों में इस बात के पर्याप्त प्रमाण दिखते हैं कि यहाँ किसी खास विचारधारा को सुसंस्थापित करने के लिए देश के विभिन्न भूभागों की यात्रा करते हुए शास्त्रार्थ किया जाता था। दक्षिण उत्तर के सम्बन्धों की निकटता का यह एक साक्ष्य भी माना जा सकता है। प्रो. सतीश चन्द्रा अपनी प्रसिद्ध पुस्तक(मध्यकालीन भारत में इतिहास लेखन, धर्म और राज्य का स्वरूप) के एक अध्याय उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन के उदय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में इस परिस्थिति पर संशय उत्पन्न करते हुए उन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिदृश्यों की पड़ताल शुरू करते हैं, जिसमें कई-कई द्वैध एक साथ खड़े दिखते हैं। उनका प्रश्न है कि 'यदि लोकप्रिय भक्ति दक्षिण के लोकप्रिय भक्ति आन्दोलन की एक शाखा है, तो यह स्पष्ट कहना कठिन है कि दोनों के बीच लगभग पाँच सौ वर्षों का अन्तराल क्यों था। जैसा कि सभी जानते हैं, दक्षिण में भक्ति आन्दोलन दसवीं सदी में अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया था। उसके बाद धीरे-धीरे वह पारम्परिक हिन्दू धर्म के खाँचों में प्रवेश कर गया, अर्थात उसने वर्ण-व्यवस्था, ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और उनकी धर्म विधियों को स्वीकार कर लिया। उत्तर भारत में वर्करी आन्दोलन चौदहवीं सदी के उत्तरार्ध में नामदेव के साथ आरम्भ हुआ, कबीर का लोकप्रिय एकेश्वरवाद पन्द्रहवीं सदी में और लोकप्रिय वैष्णव धर्म सोलहवीं सदी के पूर्वार्ध में आरम्भ हुआ, जिसने कृष्ण और राम की पूजा का समर्थन किया।...क्या यह अन्तराल आकस्मिक था?'

प्रो. सतीश चन्द्रा की यह राय शत प्रतिशत तर्कसम्मत है कि छठी शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक के अन्तराल में उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन की लोकप्रियता की असफलता का सूत्र उस क्षेत्र की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों में ढूँढा जाना चाहिए न कि इसमें कि यह आन्दोलन किसी अन्य क्षेत्र में किस कारण शुरू हुआ और इधर त्वरित वेग से क्यों नहीं आया। प्रो. आर.एस. शर्मा के हवाले से प्रो. सतीश चन्द्रा उल्लेख करते हैं कि उत्तर भारत में, राज्य की बढ़ती हुई कमजोरी, स्थानीय जमीन्दार विशिष्ट

वर्गों की ताकत में वृद्धि और ज्यादा प्रशासनिक, आर्थिक और राजनीतिक भूमिका हासिल करके उनको विकेन्द्रित करने की ताकत, नगरों के पतन, व्यापार, विशेषकर लम्बी दूरी के व्यापार में गतिरोध और पहले से ज्यादा अनुपात में ब्राह्मणों के भूमि के हस्तान्तरण को सातवीं और बारहवीं सदियों के बीच के युग की प्रमुख विशेषताओं के रूप में पहचाना गया है। तथ्य है कि यह समय राजपूतों के उदय का भी समय है। ऐतिहासिक तथ्य है कि ये वर्ग धीरे धीरे सबल होते गए, भूमि पर नियन्त्रण पाते गए और क्षेत्रीय स्तर पर राजनीतिक सत्ता पा गए। साथ ही साथ भूमि पर नियन्त्रण पाने और सत्ता के भागीदार होने में विफल हुए लोग, इस वर्ग–श्रेणी में बिल्कुल नीचे आ गए। डॉ. ताराचन्द ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में जानकारी दी है कि '...भारत के सामाजिक जीवन में ब्राह्मणों का उत्थान गुप्तकाल में आरम्भ हुआ और उस समय पूर्ण हुआ जब विदेशी आप्रावासियों को हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में शामिल कर लिया गया ...राजपूतों को बर्बरता से सभ्यता में अपने उत्थान की कीमत, ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के दावों को स्वीकार करके और उसकी पुष्टि करके चुकानी पड़ी...।' इस तथ्य के सहारे यह निष्पत्ति आसानी से निकाली जा सकती है कि वह ऐसा समय था जब भूमि और राजनीतिक सत्ता पर अधिकार प्राप्त कर लेने के बावजूद सामाजिक दृष्टि से उच्चतर हैसियत, बगैर ब्राह्मणों के समर्थन के सम्भव नहीं था। इस तरह उत्तर भारत में राजपूतों का उदय उन लोगों के मौन गठजोड़ का प्रतिफल था, जिनके पास राजनीतिक शक्ति थी और ब्राह्मण वर्ग उन शक्तिशालियों के हर आचरण को न्यायसंगत ठहराते हुए मान्यता देते थे। ब्राह्मण उस कालखण्ड के शासकों को क्षत्रिय की मान्यता देते थे और वे ब्राह्मणों को भरण पोषण, मन्दिरों के निर्माण और रखरखाव के लिए उदारतापूर्वक भूमि और धनराशि का अनुदान देते थे। इस अर्थ में देखें तो इस अन्तराल के वैभवशाली मन्दिरों के निर्माण के पीछे इस गठजोड़ की कई कई बारीकियाँ छिपी हुई हैं। ब्राह्मण लोग राजपुरोहित के प्रतिष्ठित पद पर सुशोभित होते थे, वे धर्म संचालन एवं राजकाज के बड़े बड़े मसलों के मुख्य और सर्वमान्य सलाहकार माने जाते थे। यहाँ तक कि भूमि के लगान अदा करने में भी उन्हें विशेष रियायत रहती थी। उल्लेखनीय है कि वर्णवादी वर्चस्व की यह परम्परा मुगल काल तक जारी रही। वैसे यह कोई बहुत नई स्थिति नहीं थी, इस कालखण्ड के पूर्व के समय में भी ब्राह्मणों की सुरक्षा, धर्मशास्त्रों का अनुपालन, और वर्ण व्यवस्था का समर्थन, हिन्दू शासकों का कर्तव्य माना जाता था। बावजूद इसके अशोक के समय से उत्तर भारत के शासक

या तो बौद्ध धर्म, जैन धर्म के अनुयायी थे, या इनके साथ-साथ अन्य सभी धर्मों का समान रूप से आदर करते थे। अर्थात ब्राह्मणों द्वारा प्रवर्तित, प्रतिपादित धार्मिक धारणाओं का न तो विरोध करते थे, न ही खुले तौर पर उसके रक्षक, पोषक बनने को राजी थे। सूचना है कि हर्ष जैसे महान शासक शिव भक्त थे, और हर वर्ष बौद्ध परिषद की सभा आयोजित करते थे, बुद्ध, सूर्य और शिव की पूजा करते थे, बौद्धों और ब्राह्मणों को उपहार भी देते थे। ब्राह्मण क्षत्रिय उक्त गठबन्धन से यह अस्पष्टता घटने लगी। हिन्दुत्व की पुनरुत्थानवादी धारणा उदित हुई। कुमारिल भट्ट की रचनाओं में वेदों की पूजा को पुनर्जीवन दिया गया, वर्णाश्रम-धर्म का पोषण किया गया। ब्राह्मणों की सलाह और शासकों के समर्थन से बौद्ध और जैन मन्दिरों को हिन्दू मन्दिरों में तब्दील कर बौद्धों और जैनों का दमन किया जाने लगा। मूर्ति पूजा और कर्मकाण्ड जैसे धार्मिक आचरण भी इसी दौर की परिणतियाँ हैं।

धर्म, धार्मिक मान्यताओं का संघर्ष, और शक्ति तथा मान्यतादात्री अभिकरणों के इस चक्रव्यूह का तिलिस्म रोमांचक था। इस तिलिस्म के साथ गठित सामाजिक व्यवस्था में वर्ण-श्रेणी से फिसले हुए लोगों का, इस पद्धति से आहत वर्ग के लोगों का इस वर्ण व्यवस्था, कर्मकाण्ड, और ब्राह्मण समुदाय से असन्तुष्ट हो जाना कोई अतार्किक बात नहीं थी। पर इस असन्तोष के साथ ब्राह्मण वर्ग के विरोध का परिणाम उन पर राजनीतिक शक्तियों के दमनकारी आचरण के रूप में आता था, जिसे उन्हें झेलना ही पड़ता था।

भारतीय इतिहास के मध्यकाल में किसानों की स्थितियों पर इरफान हबीब ने बहुत बारीकी से अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। भारतीय इतिहास में मध्यकाल शीर्षक की अपनी पुस्तक में उन्होंने लिखा है, 'ईसा के जन्म से पहले पाँच सौ वर्षों का काल निश्चय ही भारतीय सामाजिक इतिहास के सर्वाधिक निर्माणशील कालों में से एक रहा होगा। इन पाँच सौ वर्षों में जाति व्यवस्था की बुनियादी रूप-रेखाओं का निर्धारण हुआ होगा। किसान वर्ग अनन्त सगोत्रीय समुदायों में विभक्त होता गया तथा वह कारीगरों और टहलुआ श्रमिकों से पूरी कठोरता के साथ अलग होता गया। यह सामाजिक संरचना अपने आप नहीं बनी होगी। इसके निर्माण के लिए नए ढंग के विचारों और आस्थाओं के समग्र तन्त्र की दिशा और पुश्तपनाही की आवश्यकता थी' जाहिर है कि इस सामाजिक प्रक्रिया का सीधा सम्बन्ध ब्राह्मणों द्वारा किए जाने वाले यज्ञादि में पशुबलि के प्रबल विरोध में खड़े बौद्ध धर्म की मान्यताओं

से था। समकालीन जनजीवन की धार्मिक मान्यताएँ इस नई सामाजिक स्थितियों से पूरी तरह प्रभावित हुई। स्थानीय रीति रिवाजों और प्रचलित अन्धविश्वासों के साथ समकालीन समाज की संरचना में जनजीवन की सहजता के मद्देनजर अनेक रद्दोबदल हुई। जनजातीय आधार ध्वस्त हो गया और किसान वर्ग नए-नए समाज के रूप में मान्यता पा गया। अब इस वर्ग को अपने लिए जिस तरह की धार्मिक व्यवस्था की आवश्यकता हुई, वैसी व्यवस्था के लिए ब्राह्मणों के पवित्र कर्मकाण्ड और बौद्धों के अभिजात संघ में कोई जगह नहीं दिखती थी। कालान्तर में बौद्ध मतावलम्बियों के बीच ही बोधिसत्त्व की धारणा विकसित हुई, उसमें इतनी उदारता अवश्य थी कि कोई भी व्यक्ति, जाति-वर्ण-कर्म-हैसियत की संरचना से परे कोई भी व्यक्ति सहज पूजा-वन्दना की प्रक्रिया के साथ इसमें शामिल हो सकता था। गौरतलब है कि महायान और पीछे से चली आ रही वैष्णव-परम्परा के मुखर होने का अन्तराल भी यही था।

ऐतिहासिक तथ्य है कि इस्वी सन् के प्राथमिक एक हजार वर्षों के भीतर कृषि कर्म में तरह-तरह के प्रयोग और मानवीय उद्यम का जोर लगाया गया। मनुष्य-बल की जगह पशु-बल के प्रयोग से कृषि-कार्य में परिवर्तन आता गया। इस प्रक्रिया में सामाजिक रूप से कुछ खास वर्गवादी स्थितियाँ स्पष्ट हुई। किसान वर्ग और खेतिहर मजदूर वर्ग का स्पष्ट विभाजन दिखने लगा। इस क्रम में किसान तथा उनसे उच्च वर्ग-स्तर के लोगों की नजर में, भोजन संग्रह में तल्लीन और जंगलीय संसाधनों पर जीवन-बसर करने वाले लोग उपस्कर की तरह दिखने लगे। इससे ग्रामीण-समाज में दलित सर्वहारा वर्ग कायम हुआ। इस वर्ग के लोगों को कृषि जीवन की प्रचलित पद्धति में खुद को शामिल करने में आसानी दिखी होगी। कदाचित उनलोगों ने सोचा हो कि सहज विकास की प्रक्रिया में हम कभी न कभी खुद को खेतिहर मजदूर से किसान वर्ग में तब्दील कर पाएँ। पर इतिहास सूचित करता है कि सन् 200 से 600 तक और फिर सन् 600 से सन् 1200 तक के दो चरणों में उस काल के अछूतों के वर्ग में नई-नई जातियाँ शामिल होने लगीं और उनकी संख्या लगातार बढ़ती गई। अछूत वर्ण के लोगों की बसावट चूँकि गाँव के बाहरी छोर पर होती थी। उनके पास भूमि होती नहीं थी, इसलिए वे किसान हो नहीं सकते थे, वे किसानों के खेतिहर मजदूर होते थे। जीविका चलाने के लिए समृद्ध किसानों की मजदूरी करना, सेवा-टहल करना उनकी मजबूरी होती थी। इस क्रम में उसका भरपूर दमन होता था।

भारतीय समाज की यह विकट त्रासदी दयनीय थी। किसानों के बीच आपस में भी कई स्तर थे। औरों की भूमि में कृषि कार्य करते हुए गुजर-बसर करने वाले बटाईदारों की भी बड़ी तादाद थी।

उत्तर भारत की सामाजिक व्यवस्था में इस तरह के मानवीय सम्बन्धों के बीच यह अनुमान करना सहज है कि ऐसे दलित, अछूत और सर्वहारा के लिए स्पष्टत: कुलीन ब्राह्मणों की धर्म व्यवस्था में कोई स्पष्ट जगह नहीं थी। गौरतलब है कि भारत के पूर्वी भागों में प्रचलित तन्त्र-पूजा और शक्ति-उपासना को अत्यधिक लोकप्रियता हासिल थी। इस क्षेत्र में लम्बे समय तक बौद्ध धर्म का वर्चस्व भी बना रहा। जाहिर है कि इस क्षेत्र में ब्राह्मणवाद और जाति व्यवस्था की मजबूत पकड़ नहीं थी। नेपाल और बिहार के तटवर्ती पूर्वी उत्तर-प्रदेश में नाथपन्थ की उत्पत्ति हुई, जिसे किसी तरह तन्त्रवाद की एक शाखा के रूप में भी गिना जाता रहा। धीरे-धीरे यह धारा भारत के उत्तरी और पश्चिमी भागों में फैल गई। उल्लेखनीय है कि तन्त्रवाद और नाथपन्थ के विचारों का प्रचार-प्रसार जिन उपदेशकों द्वारा किया जाता था, वे सामान्यतया इतर-ब्राह्मण समुदाय के लोग होते थे, उनका सीधा सम्बध निम्न वर्ग से होता था। इस पन्थ में प्रवेश पाने के लिए जाति, मत, लिंग की कोई वर्जना नहीं थी। तथ्य है कि इस व्यवस्था में दीक्षित होने के लिए किसी भी व्यक्ति को लिंग अथवा जाति के आधार पर रोका नहीं गया। बल्कि अछूतों की श्रेणी से ऐसी स्त्री का भी उल्लेख मिलता है, जिन्हें गुरू के रूप में स्वीकार किया गया। तन्त्रवाद की अत्यन्त गोपनीय पद्धति के कारण इसका प्रभाव तो सीमित रहा और सामाजिक राजनीतिक दमन से बचा रहा, पर शीघ्र ही उनके आचरणों के कारण ब्राह्मणों ने तन्त्रवाद की पूरी व्यवस्था को अनैतिक घोषित कर दिया, राजकीय व्यवस्था द्वारा भी इसे शक की निगाह से देखा जाने लगा। डी.पी. चट्टोपाध्याय की पुस्तक 'लोकायत: स्टडी इन एनशिएण्ट इण्डियन मैटीरियलिज्म' में उस समय के शासक वर्गों के विरुद्ध लोकायतों, अर्थात् तान्त्रिकों और सहजियाओं के विरोधी रवैए की व्याख्या के हवाले से प्रो. सतीश चन्द्रा उल्लेख करते हैं कि दण्डिन के दशकुमारचरित्र में अघोरी और तान्त्रिकों के कुछ ऐसे उदाहरण हैं जिन्हें धर्म के विरुद्ध कार्य करने और राज्य के लिए संकट उत्पन्न करने की वजह से शासक द्वारा मार दिया गया था। जायसी(38/448) भी तान्त्रिकों के जादू से परिपूर्ण धार्मिक क्रियाओं के विरुद्ध रतनसेन को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि प्रसिद्ध राजा भोज को भी धोखा दिया गया था, अर्थात् इन तान्त्रिक क्रियाओं के कारण ही उसे अपनी गद्दी खोनी पड़ी थी।

पर सचाई है कि तमाम विरोध बाधाओं के बावजूद गोरखनाथ के नेतृत्त्व में नाथपन्थ का विस्तार हुआ और भारत के उत्तर तथा पश्चिमी क्षेत्रों में विभिन्न स्थानों पर एवं दक्षिण भारत के कुछ भागों में उन्होंने अपने केन्द्र स्थापित किए। इतिहास में इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि नाथपन्थ के इस विस्तार ने एकेश्वरवाद की प्रथा और भक्ति आन्दोलन के विकास में एक आधार का काम किया। उल्लेखनीय है कि दक्षिण भारत में सामन्ती धारणा उत्तर भारत की तरह विकसित नहीं हुई। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के गठजोड़ जैसी बात वहाँ उत्तर भारत की भाँति नहीं थी। दरअसल सामाजिक संरचनाओं में भी अन्तर था। क्षत्रियों का वहाँ कोई सुस्पष्ट अस्तित्त्व नहीं था। ब्राह्मणों की संख्या थी। अपेक्षाकृत कम ही थी, उनके धार्मिक रीति-रिवाज भी उतने कठोर नहीं थे। स्पष्ट है कि यहाँ सामाजिक स्तर पर रहन-सहन और आचार-विचार की वैसी जटिलता नहीं थी, जातियों और वर्गों में बँटे समाज में उतनी श्रेणियाँ नहीं थीं, अस्तु बौद्धों और जैनों की धार्मिक नीतियों के कठोर रीति-रिवाज को त्यागकर अपने लिए नई धार्मिक नीति तय करने में कोई कठिनाई नहीं आई। नयनार और आलवार सन्तों की लोकप्रियता समाज में फैल चुकी थी। इनके नेतृत्त्व में बौद्धों और जैनों का सफल मुकाबला सम्भव हो सका।

उत्तर भारत की स्थिति ऐसी नहीं थी। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के गठजोड़ से जाति-प्रथा और वर्ण-व्यवस्था का विकास अपनी राह पर था। एक तरफ कट्टरता थी, दूसरी तरफ दयनीयता। पर बारहवीं शताब्दी के अन्त में जब भारत में तुर्कों का आगमन हुआ, तब एक नई परिस्थिति उन्पन्न हुई।

तुर्कों द्वारा राजपूतों के पछाड़ खाने के बाद आचानक से वर्णाश्रम धर्म पर आधारित, और कर्मकाण्डी ब्राह्मणों द्वारा समर्थित सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था निर्बल हो गई। सैकड़ों वर्षों से वर्चस्व में रहा ब्राह्मण-क्षत्रिय गठजोड़ की ताकत पिघल गई। पराजित क्षत्रिय और अपमानित ब्राह्मण के पास वह शक्ति रह नहीं गई जिसके सहारे वे समाज व्यवस्था पर अपने तिलिस्स चला रहे थे। तत्कालीन भोले जन समूह पर इस गठजोड़ के बूते क्षत्रिय अपने प्रभुत्व के कारण छाए रहते थे और ब्राह्मण वर्ग धर्माचरण का मायाजाल फैलाकर। मन्दिरों की पुरोहिताई उनके हाथ थी। नागरिक परिदृश्य में वे मन्दिरों में स्थापित और अपने पास संरक्षित मूर्तियों को ईश्वर के प्रतीक की तरह नहीं, बल्कि साक्षात ईश्वर की तरह प्रस्तुत करते थे। उनकी घोषणा होती थी कि ये मूर्तियाँ हमारा कहना मानती हैं, हमारे कथनानुसार ये निष्ठावानों को फलीभूत करती हैं, और उनके सामर्थ्य पर

शंका करने वालों को दण्डित करती हैं। तुर्कों ने अपने आक्रमण के दौरान, न केवल उन मूर्तियों को तोड़ा, पैरों तले रौंद डाला, बल्कि ब्राह्मणों के, और मन्दिरों के अन्य भौतिक संसाधनों का भी बड़ा नुकसान हुआ। नागरिक परिदृश्य में फैलाई अपनी जिन भ्रान्तियों के आधार पर वे सामाजिक वर्चस्व बनाए हुए थे, उसे भी लोगों ने देखा कि मूर्तियों के तोड़-फोड़ और ब्राह्मणों को यातना देने के परिणामस्वरूप उन तुर्कों का कुछ नहीं बिगड़ा। इस तरह गठजोड़ का वर्चस्व धूल-धूसरित होते देखकर वर्ण-व्यवस्था और कर्मकाण्ड की कठोरता के प्रति सदियों से असन्तोष पालती आ रही जनता की सन्ततियों की आँखें खुलीं और इससे भक्ति आन्दोलन की लोकप्रियता का मार्ग प्रशस्त हुआ।

हिन्दी साहित्य में भक्ति भाव की लोकप्रियता की बात तो कबीर से मानी जाती है, जिनका काल पन्द्रहवीं शताब्दी से पहले नहीं माना जा सकता। पर बारहवीं शताब्दी के अन्त से लेकर कबीर के समय के दो सौ से अधिक वर्षों में भक्ति आन्दोलन की लोकप्रियता की जो पृष्ठभूमि निर्मित और पल्लवित हुई उसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी महाराष्ट्र के सन्त नामदेव की हिन्दी रचनाओं के सहारे इस बात की पुष्टि की है। तुर्की शासन की जड़ें मजबूत होने से लेकर खिलजी सल्तनत होते हुए आगे के समय तक में कई सारी स्थितियाँ आईं। अमीर खुसरो के भारत प्रेम, अलाउद्दीन खिलजी के पुत्र खिज्र खान के साथ देवगीर की देवल देवी का विवाह, महान सूफी सन्त निजामुद्दीन ओलिया की ख्याति आदि के अलावा, भक्ति और सामजिक-धर्मिक शिष्टाचारों में कई सारी ऐसी बातें दिखती हैं, जिनसे यह अनुमान किया जा सकता है कि गैर-मुस्लिम जनता का भी उस समय पर्याप्त मान-सम्मान था। उन दिनों निस्सन्देह गैर-मुस्लिमों को भी बहुत हद तक धर्मिक स्वाधीनता थी। पूजा पाठ, धर्म-कर्म, धार्मिक अनुष्ठानों की प्रक्रिया, तीज-त्योहार का उल्लास आदि मनाने की पद्धति में भिन्न-भिन्न शासकों के समय में जो कुछ भी तब्दीली आई हो, पर इसकी आजादी हिन्दुओं को थी। उस अन्तराल के दोनों प्रमुख समुदाय हिन्दू और मुसलमानों के आपसी सम्वाद से स्थितियाँ किस तरह सहज हुई होगीं, इसका ऐतिहासिक सर्वेक्षण किया जा सकता है। सूफियों और योगियों की सम्पर्क-पद्धति पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता तो है ही, ताकि यह पता लग सके कि किस रास्ते ऐसा महान कार्य सम्भव हुआ? पर, इतना स्पष्ट है कि ब्राह्मण-क्षत्रिय गठबन्धन के पराभूत होते ही ब्राह्मणों का दर्प चूर-चूर हुआ, क्षत्रिय सामन्त हतोत्साह हुए, और इसका सीधा लाभ नाथपन्थ के योगियों को

अपने मत के प्रचार में मिलने लगा, सामान्य जनों के बीच उनकी प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। कहना मुनासिब होगा कि उनकी उसी लोकप्रियता का परिणाम था कि सोलहवीं शताब्दी में आकर भी वह तुलसीदास की प्रशस्ति से मुकाबाला कर रहा था।

अब्दुल वाहिद बिलग्रामी की पुस्तक 'हकाइक-ए-हिन्दी'(हिन्दी अनुवाद एस.ए.ए.रिजवी), 'रुश्दनामा'('अलखबानी' के रूप में हिन्दी अनुवाद एस.ए.ए. रिजवी तथा एस. जैदी), हसन शिज्जी द्वारा लिखी गई निजामुद्दीन औलिया की जीवनी और कई सूफी सन्तों के 'मलफजात' के हवाले से प्रो. सतीश चन्द्रा सूचना देते हैं कि सूफी सन्तों और नाथपन्थी योगियों, जैनी साधुओं, यतियों के बीच निरन्तर सम्पर्क बना रहा। चिश्ती सन्तों के बीच संगीत सभाओं में हिन्दी की भक्ति कविता को अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी। सूफी सन्तों की जमात में 'ऊधो', 'मुरली', 'गोपी', 'रासलीला' जैसे शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग खूब होते थे। उन्हीं दिनों संस्कृत की रचनाओं का फारसी में अनुवाद होने लगा था। यह स्थिति भी उस दौर की ढेर सारी मानवीय भावनाओं, सांस्कृतिक सम्मिलन, और आपसी समझ विकसित करने की वस्तु-स्थितियों की पड़ताल का अवसर देती थी। कुछ संस्कृत रचनाओं के फारसी अनुवाद का श्रेय जिया नक्शबन्दी को जाता है। उनके जन्म-काल की सूचना तो उपलब्ध नहीं है, पर सन् 1350 में उनकी मृत्यु का उल्लेख है। फारसी में यह अनुवाद कार्य इतनी तार्किकता के साथ शुरू हुआ कि फिरोज तुगलक और सिकन्दर लोधी जैसे कट्टर और तंग-दिल शासकों के शासन काल में भी यह कार्य न केवल जारी रहा, बल्कि प्रशस्त भी हुआ। वैसे तो ज्यादातर अनुवाद कहानी, संगीत औरशृंगारपरक पाठ के अनुवाद खूब हुए। पर तथ्य है कि धर्म से सम्बन्धित रचनाओं का अनुवाद भी हुआ। सन् 1961 में लाहौर में छपी एस.एम. इकराम की पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ मुसलिम सिविलाइजेशन इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान का उल्लेख करते हुए प्रो. सतीश चन्द्रा सूचना देते हैं कि इन दिनों एक संस्कृत रचना के फारसी अनुवाद पर आधारित जिया नक्शबन्दी की पुस्तक 'तूतीनाम' खूब प्रसिद्ध थी। अभिप्राय यह ध्वनित होता है कि उन्होंने हिन्दू और संस्कृत स्रोतों से हुए अनुवादों में पर्याप्त रुचि ली थी। उनकी रचनाओं में कोकशास्त्र का अनुवाद भी शामिल है। सूचना है कि भारतीय संगीत पर लिखी गई पहली पुस्तक है 'गुनयात-उल मुनया' (सन् 1374-75)। यह पुस्तक फिरोज तुगलक के एक प्रमुख कुलीन और गुजरात के गर्वनर (नायब) मलिक शमसुद्दीन अबु राजा के लिए लिखी गई थी। लेखक को

सहायक ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध कराई गई कृतियों में 'भारत संगीत रत्नावली' आदि शामिल थी। फिरोज तुगलक के आग्रह पर अब्दुल शम्स बहा-ए-नूरी ने वराहमिहिर की खगोल विज्ञान पर आधारि रचना वृहत संहिता का अनुवाद 'तरजुमा-ए-बाराही' के रूप में किया।

इस तथ्य के आधार पर हमें यह मान लेने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए कि इस समय तक आते-आते विद्वानों की एक ऐसी मण्डली कायम हो चुकी थी जो संस्कृत और फारसी--दोनों भाषाओं के मर्म और इन दोनों भाषाओं की रचनाओं की अर्थवत्ता से भली-भाँति परिचित भी थे, हिन्दू-मुसलिम के आचार-विचार, धार्मिक आचरण के गुणसूत्रों के जानकार भी थे, और इनके बीच आदान-प्रदान के लिए उद्यमशील भी थे। जाहिर है कि चौदहवीं, पन्द्रहवीं शताब्दियों और उनके बाद के समय में हिन्दी में होने वाली रचनाओं की मजबूत पृष्ठभूमि के रूप में हम हन परिस्थितियों का संज्ञान लें। इन उद्यमों में प्रचलित दन्त-कथाओं और नीति-कथाओं का जितना भी उपयोग हुआ, उनमें भक्ति आन्दोलन के सन्दर्भ में सर्वाधिक उल्लेखनीय है कि वहाँ सूफी रहस्यवाद और हिन्दू मिथक एवं दर्शन को विशेष रूप से उल्लिखित किया गया। मुल्ला दाउद की रचना 'चन्दायन' को उस दौर की प्रारम्भिक रचना के रूप में गिना जाता है। यद्यपि सूफी सन्तों के काव्यों से हिन्दू दर्शन के गहन दृष्टिकोण मेल नहीं खाते थे, पर रहस्यवाद और प्रेम को आधार बनाकर दो प्रमुख धर्मावलम्बियों के अनुयायियों को एक साथ प्रस्तुत करने की विधि एक प्रशंसनीय उद्यम के रूप में सामाने आती है। 'पीर' और, 'प्रिय मिलन' की रहस्यवादी सूफी चिन्तन धारा और एकेश्वरवादी हिन्दू सन्तों की चिन्तनधारा में रूढ़िवाद के विरोध की अटूट धारणा एक-सी थी। इस कारण यह स्पष्ट है कि असनातनी धार्मिक धारा की लोकप्रियता बढ़ाने में उस सूफी चिन्तन ने बहुत बड़ा बल दिया।

इस स्थापना में कोई शक की गुंजाईश नहीं कि सत्ता-चक्र के समर्थन से विच्छिन्न, मर्दित मान और चूर-चूर हुए दर्प के लुटे-पिटे संसाधान वाले ब्राह्मणों के वर्चस्व से समाज भयमुक्त हो चुका था, फलस्वरूप वर्ण-व्यवस्था विरोधी असनातनी समूह ने सिर उठाकर जीना शुरू किया और एकेश्वरवाद की लोकप्रियता मुखरित हुई। इस बात का उल्लेख मुनासिब होगा कि धर्म का यह आन्दोलनात्मक स्वरूप उस दीर्घकालीन असन्तोष और पराभव की प्रतिक्रिया के रूप में उभरकर आया, जिसे सामान्य लोगों ने सदियों से झेला था।

जिस जनसमूह को यह स्थिति आने से पहले तक दबाकर रखा गया था, तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के वर्चस्व में धार्मिक अभिकरणों और ब्राह्मणों द्वारा दी गई व्यवस्था में जिन्हें सामाजिक-आर्थिक-कौलिक हैसियत के कारण निम्न श्रेणी में रखा गया था, वे उस व्यवस्था में निश्चय ही कोई जगह नहीं पा सकते थे। इसलिए ब्राह्मणों के नियन्त्रण से मुक्ति का मार्ग देखते ही उस असन्तुष्ट समूह की इच्छाएँ बलवती हो उठीं। इस उल्लेखनीय कार्य में सिद्धों एवं नाथपन्थ के सन्तों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। मैक्स वेबर अपनी पुस्तक 'द सोशियोलॉजी ऑफ रिलीजन'(अंग्रेजी अनुवाद एफ्रायम फिश्कोक) में लिखते हैं कि 'जब किसी राष्ट्र में विसैन्यीकरण आरम्भ होता है तब वहाँ राजनीतिक गतिविधि उस राष्ट्र के अन्दर सामाजिक रूप से विशेष सुविधा प्राप्त वर्गों द्वारा विकसित एक मुक्ति-धर्म (जैसे भक्ति) के स्थायी होने का सबसे अच्छा अवसर होता है। इसके फलस्वरूप, मुक्ति-धर्मों का उदय प्रायः उस समय होता है जब शासक वर्ग...सैन्य सम्बन्धी साम्राज्यी राज्य के हाथों में अपनी राजनीतिक ताकत खो चुके होते हैं। इसके विपरीत, गतिशील राजनीतिक सामाजिक परिवर्तन के युग में गैर-पक्षपात पूर्ण चिन्तन के फलस्वरूप बौद्धिक अवधारणाएँ कभी इस प्रकार की परवर्ती परिस्थितियों के दबाव के बिना भी उत्पन्न हो जाती है।'

मैक्स वेबर का यह उद्धरण भक्ति आन्दोलन की लोकप्रियता और स्थायित्व पाने की स्थिति को पूर्ण समर्थन देता है। यहाँ 'विशेष सुविधा प्राप्त वर्गों द्वारा विकसित एक मुक्ति-धर्म' को इस रूप में देखने की आवश्यकता है कि तत्कालीन विशेष सुविधा प्राप्त वर्ग, अर्थात् क्षत्रिय-ब्राह्मण गठबन्ध की अवधारणाओं और क्रिया-कलापों के फलस्वरूप ही वह असन्तुष्ट वर्ग तैयार हुआ, जिसे उस व्यवस्था में कभी उसकी सही जगह नहीं दी गई। उनके मन और कामना के अनुकूल कुछ भी करने की इजाजत उसे नहीं मिली। इस अर्थ में हम कह सकते हैं कि जिस दमन और उपेक्षा की परिणति के रूप में 'भक्ति' की लोकप्रियता का वैसा स्वरूप समाने आया, वह भले ही उनके द्वारा विकसित नहीं हुई हो, पर उस गठबन्धन ने चाहे-अनचाहे ऐसी स्थितियाँ अवश्य विकसित कीं, जिसका परिणाम इस रूप में सामाने आया। बल्कि मेरी राय तो यह बनती है कि किसी मजबूत इरादे से जब कभी किसी नई मानवीय विचारधारा का प्रतिस्थापन होता है, तो उसके लिए उन प्रतिरोधी शक्तियों को भी कम श्रेय नहीं दिया जाना चाहिए, जिनके द्वारा उत्पन्न रोध के कारण वह दृढ़ होता है। भक्ति आन्दोलन की लोकप्रियता में इस अर्थ में वे रोधी शक्तियाँ भी कम महत्त्व की नहीं हैं।

अब कहने के लिए तो यह अवश्य कहा गया कि हिन्दू परिवेश को इसलामी आक्रमण से बचाने हेतु इस आन्दोलन का विकास हुआ, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो 'पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति' का वरण करने के अलावा कोई दूसरा उपाय ही नहीं देखा, पर भक्ति आन्दोलन की लोकप्रियता के लिए भारत के एक बड़े परिदृश्य में सदियों की सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक पृष्ठभूमि को टटोलना बहुत जरूरी है।

यहाँ एक सावधानी की आवश्यकता है। उक्त विवरण का अर्थ यह भी नहीं लगाया जाना चाहिए कि भक्ति आन्दोलन सामाजिक रूप से निम्नतर जीवन स्तर के लोगों के धार्मिक उच्छ्वास से भरा आन्दोलन था। वस्तुतः क्षत्रियों द्वारा समर्थित, पोषित ब्राह्मणों के वर्चस्व का गढ़ जब हिल गया, उनकी मान-प्रतिष्ठा जब फीकी पड़ गई, तब उस व्यवस्था की यातना से ऊबे हुए लोगों को जहाँ अपनी अभिलाषाओं के लिए जगह मिली, वहाँ वे शरीक हो गए। उस समय उन्हें सिद्धों, योगियों की अवधारणा में अपने लिए जगह दिखी। बगैर किसी जाति, धर्म और सामाजिक हैसियत का प्रमाण पाए उस पन्थ में दीक्षित होने और उनके अनुयायी होने की वहाँ छूट थी। एक और स्थिति यह थी कि तुर्की शासन व्यवस्था में कृषि कर्म की दिशा में जितने भी काम आगे बढ़े, उनमें व्यापार की स्थिति भी बेहतर हुई। स्पष्ट रूप से उदीयमान दस्तकारों का एक वर्ग तैयार हुआ। दुकानदारों, व्यापारियों के इस वर्ग के लोगों के जीवन यापन के लिए यह स्थिति बेहतर अवश्य थी। पर यह वर्ग भी उस वर्णवादी व्यवस्था और ब्राह्मणों की कठोर अनुशासनबद्धता एवं धर्माचरण के पाखण्ड से उतने ही त्रस्त थे। इसलिए उनका झुकाव भी इस एकेश्वरवाद की तरफ हुआ और इसकी लोकप्रियता बढ़ती गई। अर्थात् यह भक्ति आन्दोलन एक ऐसा आन्दोलन साबित हुआ, जिसमें एक साथ कई वर्णों, कई सम्प्रदायों, मान्यताओं के लोग शामिल थे। इस आन्दोलन की सबसे बड़ी बात यह थी कि यहाँ कई सारी सामाजिक कुरीतियों और रूढ़ियों का विरोध किया गया था। अनुमान करना असहज न होगा कि इस भक्ति आन्दोलन ने जिस वर्णवादी व्यवस्था को विस्थापित किया, उसकी मुख्य शक्ति, ब्राह्मणों की शक्ति थी, यदि उसका पराभव इस तरह न हुआ होता तो बहुत सम्भव था कि जिन अन्धविश्वासों और पाखण्डों का जाल फैलाकर वे इत्मीनान से जी रहे थे, वह अन्धविश्वास बाद के दिनों में और बढ़ता जाता। शायद यही कारण हो कि कबीर के पूरे रचना-संसार में ब्रह्मणवादी सोच पर सर्वाधिक प्रहार किया गया है।

भक्ति आन्दोलन का जैसा स्वरूप उत्तर भारत में और खासकर हिन्दी पट्टी में देर से आया, उसके सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक परिदृश्य का यह वातावरण निश्चय ही रोमांचक है, पर इसकी बृहत् समीक्षा और व्याख्या की आवश्यकता है। दक्षिण भारत में सदियों पूर्व इसके लोकप्रिय हो जाने की अलग समाज-व्यवस्था थी। पर, इतना तय है कि यह आन्दोलन किसी भी समय के पराजित मन का आर्तनाद नहीं है, अपने समकालीन परिवेश और समाज-व्यवस्था की विसंगतियों से उपजी एक नई अवधारणा है, जिसे समान भाव-क्षितिज की अन्य समकालीन हवाओं ने भी अपनी-अपनी तरह का समर्थन दिया।

5

भक्तिकालीन हिंदी साहित्य और तत्कालीन परिस्थितियाँ

हिंदी साहित्य के कालविभाजन और नामकरण के आधार पर संवत् 1375-1700 वि. तक के कालखण्ड में सृजित हिंदी साहित्य में भक्ति भावना की प्रधानता होने के कारण आचार्य शुल्क ने इस काल को भक्तिकाल का नाम दिया है। प्रमुख आलोचक डॉ. नगेन्द्र ने इस समय सीमा को 1350-1650 ई. माना है।

आदिकाल के वीरता और शृंगार से परिपूर्ण साहित्य से एकदम भिन्न इस काल के साहित्य में भक्ति की शान्त निर्झरिणी बहती है। कोई भी साहित्यिक प्रवृत्ति यूँ ही अचानक विकसित नहीं होती, उसके पीछे कई सारे प्रमुख कारक, कई शक्तियाँ और तमाम परिस्थितियाँ सक्रिय रहती हैं। साहित्य भी इनसे अवश्य प्रभावित होता है और कालांतर में एक नया स्वरूप ग्रहण करता है। लगभग 300 वर्षों के भक्ति साहित्य का सृजन कोई सहज-सरल घटना नहीं थी। तत्कालीन इतिहास और समाज पर नजर डालें तो स्पष्ट होता है कि इसके पीछे कोई एक नहीं बल्कि अनेक परिस्थितियां सक्रिय थीं। संक्षेप में देखें तो भक्तिकाल में निम्नलिखित परिस्थितियां सामने आती हैं -

राजनीतिक परिस्थितियाँ

(i) सन् 1375-1526 ई. तक उत्तर भारत में तुगलक वंश, सैयद वंश, लोदी वंश, तत्पश्चात मुगल आदि अनेक राजवंशों का शासन रहा। तुगलक वंश में न्याय व्यवस्था 'कुरान' और 'हदीस' पर आधारित थी।

(ii) बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, और शाहजहाँ आदि का शासन भक्तिकाल की समय-सीमा में ही था। इसके अलावा कुछ वर्षों तक शेरशाह नामक अफगान का भी शासन रहा।

(iii) जहाँ फिरोज शाह तुगलक हिंदुओं के प्रति असहिष्णु था वहीं शेरशाह ने मालगुजारी और कर की उचित व्यवस्था की।

(iv) अकबर में अन्य मुगल शासकों की अपेक्षा हिन्दू जनता के प्रति अधिक सहिष्णुता थी तथा उसके शासन काल में भू-व्यवस्था में भी पर्याप्त सुधार हुआ।

(v) राजनीतिक दृष्टि से यह काल हिंदुओं के परायण का काल था।

(vi) इस तरह देखा जाए तो भक्तिकाल के आरम्भिक दिनों में इस्लामी आक्रांताओं के आगमन से यह काल उथल-पुथल, युद्ध, संघर्ष और अशांति का काल रहा। किंतु बाद में धीरे-धीरे शांति और स्थिरता की ओर बढ़ा।

सामाजिक परिस्थितियाँ

(i) भक्तिकाल में भारतीय समाज प्रमुख रूप से दो वर्गों में विभाजित था। एक वर्ग राजा, महाराजा, सेठ-साहूकार, सुल्तान तथा सामंतों आदि का था वहीं दूसरे वर्ग में किसान, मजदूर, दलित, राज्य कर्मचारी और पारम्परिक काम धंधे में लगे लोग थे।

(ii) हिंदुओं में वर्ण व्यवस्था-जाति व्यवस्था अत्यंत कठोर थी और छुआछूत की भावना व्याप्त थी। इसी जाति व्यवस्था के कारण एक केन्द्रीय सत्ता होने के बावजूद भी समाज में एकता नहीं थी।

(iii) स्त्रियों को बहुत अधिकार नहीं मिले थे, उन्हें दोयम दर्जे का नागरिकता प्राप्त थी। सती प्रथा और पर्दा प्रथा का भी प्रचलन था।

(iv) इस्लाम में मौजूद समानता की भावना ने वंचित वर्ग को आकर्षित किया। इसके परिणाम स्वरूप निम्न वर्ग के लोगों में हिन्दू धर्म से इस्लाम में बड़े पैमाने पर धर्मांतरण हुआ।

(v) साधु सन्तों में पाखंड एवं बाह्याडम्बरों का बोलबाला था।

(vi) कला के क्षेत्र में हिन्दू संस्कृति पर मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

(vii) दोनों संस्कृतियों में पारम्परिक आदान-प्रदान हुआ।

भक्तिकाल में समाज परिवर्तन के दौर से गुजर रहा था। एक तरफ परम्परावादी लोग अपनी परम्पराओं को बनाए रखने के पक्ष में थे तो दूसरी तरफ नव इस्लाम के हितैशी लोग स्वयं को प्रगतिशील बता कर समाज में बदलाव लाना चाहते थे। तत्कालीन कवियों की साहित्य सर्जना उक्त परिस्थितियों से प्रभावित थी और उनकी रचनाओं यह स्पष्ट देखा जा सकता है।

धार्मिक परिस्थितियाँ

(i) वैदिक धर्म के स्वरूप में परिवर्तन हुआ तथा वैदिक कर्मकांडों की महत्ता कम हो गयी। इन्द्र, वरुण आदि अनेक वैदिक देवताओं के स्थान पर विष्णु (मूल ब्रह्म) की पूजा विभिन्न रूपों में होने लगी।

(ii) वैदिक धर्म के केन्द्रीय देवता इन्द्र के स्थान पर विष्णु को मुख्य शक्ति के रूप में स्थापित किया गया। आगे चलकर विष्णु के ही दो रूपों को कृष्ण और राम के स्वरूप में स्वीकारा गया और इसी से क्रमशः कृष्ण भक्ति धारा और राम भक्ति धारा की उत्पत्ति हुई।

(iii) बौद्ध धर्म विकृतियों के फलस्वरूप हीनयान और महायान दो शाखाओं में विभक्त हे गया।

(iv) महायानियों ने जनता के निम्न वर्ग को जादू-टोना, तंत्र-मंत्र के चमत्कार दिखा कर प्रभावित किया।

(v) नाथों एवं सिद्धों में कर्मकांड के स्थान पर गुरू को महत्त्व दिया गया।

(vi) हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही धर्मों में पूजा, नमाज, माला, तीर्थयात्रा, अजान, रोजा जैसे बाह्य आडंबरों की अधिकता हो गयी थी।

(vii) सूफियों ने हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक एकता का आधार तैयार किया तथा समाज के सभी वर्गों में बंधुत्व की भावना का संचार किया।

(viii) संत कवियों ने राम के लोक रक्षक स्वरूप तथा कृष्ण के लोक रंजक स्वरूप की स्थापना की।

(ix) ईश्वर के सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपों को मान्यता।

दक्षिण से शुरू हुई भक्ति की लहर उत्तर भारत में भी आई और यहां इसे खुले दिल से स्वीकार भी किया गया। हिंदू और इस्लाम दोनों ही धर्मों में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों एवं बाह्याडम्बर को रोकने के लिए तत्कालीन संतों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। कबीर का समाज सुधार, जायसी का प्रेम, तुलसी का समन्वयवाद तथा सूरदास द्वारा कृष्ण के लोकरंजन स्वरूप का चित्रण निश्चय ही तत्कालीन परिस्थितियों की देन है।

सांस्कृतिक परिस्थितियाँ

(1) सांस्कृतिक दृष्टि से देखा जाए तो भक्तिकाल एक मिश्रित या समन्वित संस्कृति के विकास का काल है।

(2) भारत में इस्लाम के आने से पहले ही कई अन्य जातियाँ का आगमन हो चुका था। इन जातियों के प्रभाव से भारत में एक मिली-जुली संस्कृति का विकास हुआ।

(3) इस्लाम के आने से एक बार पुनः भारत में सांस्कृतिक संक्रमण का दौर आया और खान-पान, रहन-सहन, शिक्षा, साहित्य, स्थापत्य कला, मूर्तिकला, संगीत एवं चित्रकला में काफी बदलाव देखने को मिला।

(4) विदेशी तुर्क एवं भारतीय स्थापत्य शैली के मिश्रण से गुजराती एवं जौनपुरी स्थापत्य शैली का विकास हुआ।

(5) भक्तिकाल के कवियों ने भक्ति साहित्य को संगीत से जोड़ा। वे अपनी रचनाओं को गा-गाकर लोगों तक पहुँचाते थे। कुछ कवियों ने विभिन्न रागों में भी काव्य रचना की है।

(6) भक्तिकाल में संगीत के साथ ही चित्रकला की भी खूब उन्नति हुई। मुगल शासकों द्वारा चित्रकला को राजाश्रय प्रदान किया गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्तिकाल में पर्व-त्योहार, उत्सव, साहित्य एवं कलाओं आदि के साथ-साथ संस्कृति के लगभग सभी क्षेत्रों में आपसी

समन्वय व मिश्रण के माध्यम से एक मिश्रित अथवा समन्वित संस्कृति का विकास हुआ।

निश्चय ही भक्तिकाल का साहित्य श्रेष्ठ, अनुपम एवं अद्वितीय है। हम यकीनन कह सकते हैं कि भक्तिकाल के साहित्य को तत्कालीन परिस्थितियों ने काफी हद तक प्रभावित किया। इसी का परिणाम है कि इस काल की साहित्य रचना अपने पूर्ववर्ती वीरता और शृंगार से परिपूर्ण साहित्य से काफी भिन्न है। अब साहित्य में वीरता और शृंगार के स्थान पर भक्ति की प्रधानता हो गयी थी।

6

भक्तिकाल– हिंदी साहित्य का स्वर्णकाल

भक्तिकाल को हिंदी साहित्य का स्वर्णिम काल कहा जाता है। कविवर रहीम, तुलसी, सूर, जायसी, मीरा, रसखान आदि इसी युग की देन हैं जिन्होंने धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत कविताओं छंदों आदि के माध्यम से समाज के सम्मुख वैचारिक क्रांति को जन्म दिया।

इन कवियों ने भक्ति भाव के साथ ही साथ लोगों में नवीन आत्मचेतना का संचार भी किया तथा अपने उन्नत काव्य के माध्यम से समाज को एक नई दिशा दी। भक्तिकालीन काव्यधारा को प्रमुख रूप से दो शाखाओं में विभाजित किया गया है-(1) निर्गुण भक्ति शाखा तथा (2) सगुण भक्ति शाखा। निर्गुण मार्गी शाखा के प्रमुख कवि कबीर, रैदास आदि थे।

इनमें कबीरदास जी सर्वाधिक प्रचलित हुए। वे इसी युग के श्रेष्ठ संत रामानंद के शिष्य थे जिन्होंने तत्कालीन समय में व्याप्त जात-पाँत के भेद-भाव को दूर कर समाज में मानवतावाद की स्थापना का प्रयास किया। कबीरदास जी ने उन्हीं के मार्ग का अनुसरण किया तथा अपनी काव्य रचना में निर्गुण मत का प्रचार-प्रसार किया।

भक्ति युग की सगुण मार्गी शाखा को पुनः दो प्रमुख धाराओं-राममार्गी धारा तथा कृष्णमार्गी धारा के रूप में विभाजित किया जा सकता है। राममार्गी

धारा के प्रमुख कवि तुलसीदास जी हुए हैं जिन्होंने भगवान राम की उपासना से संबंधित श्रेष्ठ काव्यों की रचना कर ख्याति प्राप्ति की।

वहीं दूसरी ओर कृष्णमार्गी धारा के प्रमुख कवि सूरदास जी हुए हैं। सूरदास जी ने कृष्ण भक्ति का मार्ग अपनाते हुए कृष्ण लीला का जो सजीव चित्रण संसार के सम्मुख प्रस्तुत, किया वह अतुलनीय है।

इसके अतिरिक्त निर्गुण शाखा के मलिक मुहम्मद 'जायसी' का नाम भी प्रमुख है जिन्होंने प्रेम के मार्ग को प्रधानता दी और बताया कि ईश्वर प्राप्ति का आधार प्रेम-मार्ग ही है।

भक्तिकालीन साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. गुरू की महत्ता–

भक्तिकाल में गुरू को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया था।

कबीरदास जी ने अपनी 'साखी' में गुरू के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है–

"गुरू गोविदं दोउ खड़े काके लागों पाँय।
बलिहारी गुरू आपने गोविंद दियो बताय।।"

कबीर की साखी

एक सामाजिक विश्लेषण

Posted by chandanse पद कबीर की साखी, महापुरुषों के विचार, राष्ट्रभाषा के लिए on November 25, 2011

जिन दिनों कबीर दास का आविर्भाव हुआ था, उन दिनों हिंदूओं में पौराणिक मत ही प्रबल था। देश में नाना प्रकार की साधनाएँ प्रचलित थीं। कोई वेद का दिवाना था, तो कोई उदासी और कई तो ऐसे थे, जो दीन बनाए फिर रहा था, तो कोई दान-पुण्य में लीन था। कई व्यक्ति ऐसे थे, जो मदिरा के सेवन ही में सब कुछ पाना चाहते थे तथा कुछ लोग तंत्र-मंत्र, औषधादि की करामात को अपनाए हुए थे।

इक पठहि पाठ, इक भी उदास,
इक नगन निरन्तर रहै निवास,
इक जीग जुगुति तन खनि,
इक राम नाम संग रहे लीना।

कबीर ने अपने चतुर्दिक जो कुछ भी देखा-सुना और समझा, उसका प्रचार अपनी वाणी द्वारा जोरदार शब्दों में किया–

ऐसा जो जोग न देखा भाई, भुला फिरे लिए गफिलाई
महादेव को पंथ चलावे, ऐसा बड़ो महंत कहावै॥

कबीर दास ने जब अपने तत्कालीन समाज में प्रचलित विडम्बना देखकर चकित रह गए। समाज की इस दुहरी नीति पर उन्होंने फरमाया –

पंडित देखहु मन मुंह जानी।
कछु धै छूति कहां ते उपजी, तबहि छूति तुम मानी।

समाज में छुआछूत का प्रचार जोरों पर देखकर कबीर साहब ने उसका खंडन किया। उन्होंने पाखंडी पंडित को संबोधित करके कहा कि छुआछूत की बीमारी कहाँ से उपजी।

तुम कत ब्राह्मण हम कत सूद,
हम कत लौहू तुम कत दूध,
जो तुम बाभन बाभनि जाया,
आन घाट काहे नहि आया।

महात्मा कबीर ब्राह्मण का अभिमान यह कहकर तोड़ते हैं कि अगर तुम उच्च जाति के खुद को मानते हो, तो तुम किसी दूसरे मार्ग से क्यों नहीं आए ? इस प्रकार कबीर ने समाज व्यवस्था पर नुकीले एवं मर्मभेदी अंदाज से प्रहार किया। समाज में व्याप्त आडंबर, कुरीति, व्याभिचार, झूठ और पाखंड देखकर वे उत्तेजित हो जाते और चाहते कि जन-साधारण को इस प्रकार के आडम्बर एवं विभेदों से मुक्ति मिले और उनके जीवन में सुख-आनंद का संचार हो।

महात्मा कबीर के पास अध्यात्मिक ज्ञान था और इसी ज्ञान के द्वारा वे लोगों को आगाह करते थे–

आया है सो जाएगा, राजा रंक फकीर।
एक सिंहासन चढ़ि चलें, एक बंधे जंजीर।

अपने कर्तव्य के अनुसार हर व्यक्ति को फल मिलना निश्चित है। हर प्राणी को यहाँ से जाना है। समाज व्याप्त कुरीतियों करने और जन-समुदाय में सुख-शान्ति लाने के लिए कबीर एक ही वस्तु को अचूक औषधि मानते हैं, वह है आध्यात्म। वे चाहते हैं कि मानव इसका सेवन नियमित रुप से करे।

महात्मा कबीर दास के सुधार का प्रभाव जनता पर बड़ी तेजी से पड़ रहा था और वह वर्ण-व्यवस्था के तंत्र को तोड़ रहे थे, उतने ही तेजी से व्यवस्था

के पक्षधरों ने उनका विरोध भी किया। संत के आस-पास, तरह-तरह के विरोधों और चुनौतियों की एक दुनिया खड़ी कर दी। उन्होंने सभी चुनौतियों का बड़ी ताकत के साथ मुकाबला किया। इसके साथ ही अपनी आवाज भी बुलंद करते रहे और विरोधियों को बड़ी फटकार लगाते रहे।

तू राम न जपहि अभागी,
वेद पुरान पढ़त अस पांडे,
खर चंदन जैसे भारा,
राम नाम तत समझत नाहीं,
अति पढ़े मुखि छारा॥

इसी प्रकार कबीर अपने नीति परक, मंगलकारी सुझावों के द्वारा जनता को आगाह करते रहे ओर चेतावनी देते रहे कि मेरी बात ध्यान से सुनो और उस पर अमल करो, इससे तुम्हारा कल्याण होगा।

घर-घर हम सबसों कही, सवद न सुने हमारा।
ते भव सागर डुबना, लख चौरासी धारा॥

कबीरदास समाज में तुरंत परिवर्तन चाहते थे। आशानुकूल परिवर्तन नहीं होते देखकर वे व्यथित हो उठते थे। उन्हें दुख होता था कि उनकी आवाज पर उनके सुझाव पर कोई ध्यान नहीं दे रहा है।

आधुनिक संदर्भ में भी यही बात कही जा सकती है। आज भी भारतीय समाज की वही स्थिति है, जो कबीर काल में थी। सामाजिक आडंबर, भेद-भाव, ऊँच-नीच की भावना आज भी समाज में व्याप्त है। व्याभिचार और भ्रष्टाचार का बाजार गर्म है। आए दिन समाचार पत्रों आग लगी, दहेज मौत, लूट, हत्या और आत्महत्या की खबरें छपती रहती हैं।

समाज के सब स्तर पर यही स्थिति है। " "राजकीय अस्पतालों में जो रोगी इलाज के लिए भर्ती होते हैं, उन्हें भर पेट भोजन और साधारण औषधि भी नहीं मिलती। इसके अलावे अस्पताल में कई तरह की अव्यवस्था और अनियमितता है।"

देश के संतों, चिंतकों तथा बुद्धिजीवियों ने बराबर इस बात की उद्घोषणा की है कि " "नीति-विहीन शासन कभी सफल नहीं हो सकता। नीति और सदाचार अध्यात्म की जड़ है। देश की अवनति तथा सामाजिक दूर्व्यवस्था का मुख्य कारण यही है कि आज हम अपनी सांस्कृतिक धरोहर को भूल कर पाश्चात्य चकाचौंध की ओर आकर्षित हो गए हैं। ऊपरी आडंबर और शान-शौकत

को ही मुख्य वस्तु मान कर हम अपनी शालीनता, गरिमा तथा जीवन मूल्यों को भूल गए हैं, जिसका फल है–पतन, निराशा और दुख। आज के संसार में सब कुछ उल्टा हो रहा है और इसीलिए लोग सत्य का दर्शन नहीं कर पाते। कबीर–पंथ की परंपरा में स्वामी अलखानंद लिखते हैं–

सिंह ही से स्यार लड़ाई में जीति।
साधु करे चोरि चोर को नीति।
लड्डू लेई खात स्वाद आवे तीति।
मरीच के खात स्वाद मीठ मीति।
ऐसी ही ज्ञान देखो उल्टा रीति॥

इस नाजुक परिस्थिति से अध्यात्मिकता तथा नैतिकता ही हमें उबार सकती है। कबीर–साहित्य ऐसे ही विचारों, भावनाओं और शिक्षाओं की से सृजित है। उसमें अनमोल मोती गुंथे हैं। उन्होंने मानव जीवन के सभी पक्षों को स्पर्श किया है। अत: आज की स्थिति में कबीर साहित्य हमारा मार्ग दर्शन करने में पूर्ण रुप से सक्षम है।

एक बूंद से सृष्टि रची है, को ब्रह्ममन को सुद्र।
हमहुं राम का, तुमहुं राम का, राम का सब संसार॥

कबीर का उपदेश सार्वभौम, सार्वजनिक, मानवतावादी तथा विश्वकल्याणकारी है। उन्होंने सामान्य मानव धर्म अथवा समाज की प्रतिष्ठा के लिए जिस साधन का प्रयोग किया था, वह सांसारिक न होकर आध्यात्मिक था।

आधुनिक संदर्भ में कबीर का कहा गया उपदेश सभी दृष्टियों से प्रासंगिक है। जिस ज्ञान और अध्यात्म की चर्चा आज के चिंतक और संत कर रहे हैं, वही उद्घोषणा कबीर ने पंद्रहवीं शताब्दी में की थी। अत: आज भी कबीर साहित्य की सार्थकता और प्रासंगिकता बनी हुई है। आज के परिवेश में जरूरी है कि इसका प्रसार किया जाए, ताकि देश और समाज के लोग इससे लाभांवित हो सके।

हिंदी साहित्य में कबीर का व्यक्तित्व अनुपम है। गोस्वामी तुलसीदास को छोड़ कर इतना महिमामण्डित व्यक्तित्व 'कबीर' के सिवा अन्य किसी का नहीं है। कबीर की उत्पत्ति के संबंध में अनेक किंवदन्तियाँ हैं। कुछ लोगों के अनुसार वे जगद्गुरु रामानन्द स्वामी के आशीर्वाद से काशी की एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। ब्राह्मणी उस नवजात शिशु को लहरतारा ताल के पास फेंक आयी। उसे नीरु नाम का जुलाहा अपने घर ले आया। उसी ने उसका

पालन-पोषण किया। बाद में यही बालक कबीर कहलाया। कतिपय कबीर पन्थियों की मान्यता है कि कबीर की उत्पत्ति काशी में लहरतारा तालाब में उत्पन्न कमल के मनोहर पुष्प के ऊपर बालक के रूप में हुई। एक प्राचीन ग्रंथ के अनुसार किसी योगी के औरस तथा प्रतीति नामक देवाङ्गना के गर्भ से भक्तराज प्रल्हाद ही संवत 1455 ज्येष्ठ शुक्ल 15 को कबीर के रूप में प्रकट हुए थे। कुछ लोगों का कहना है कि वे जन्म से मुसलमान थे और युवावस्था में स्वामी रामानन्द के प्रभाव से उन्हें हिंदु धर्म की बातें मालूम हुईं। एक दिन, एक पहर रात रहते ही कबीर पंचगंगा घाट की सीढ़ियों पर गिर पड़े। रामानन्द जी गंगास्नान करने के लिये सीढ़ियाँ उतर रहे थे कि तभी उनका पैर कबीर के शरीर पर पड़ गया। उनके मुख से तत्काल 'राम-राम' शब्द निकल पड़ा। उसी राम को कबीर ने दीक्षा-मन्त्र मान लिया और रामानन्द जी को अपना गुरू स्वीकार कर लिया। कबीर के ही शब्दों में-'हम कासी में प्रकट भये हैं, रामानन्द चेताये'।

अन्य जनश्रुतियों से ज्ञात होता है कि कबीर ने हिंदु-मुसलमान का भेद मिटा कर हिंदु-भक्तों तथा मुसलमान फकीरों का सत्संग किया और दोनों की अच्छी बातों को हृदयंगम कर लिया।

जनश्रुति के अनुसार उन्हें एक पुत्र कमल तथा पुत्री कमाली थी। इतने लोगों की परवरिश करने के लिये उन्हें अपने करघे पर काफी काम करना पड़ता था। साधु संतों का तो घर में जमावड़ा रहता ही था। कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे-

'मसि कागद छूवो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।'

उन्होंने स्वयं ग्रंथ नहीं लिखे, मुँह से भाखे और उनके शिष्यों ने उसे लिख लिया। आप के समस्त विचारों में रामनाम की महिमा प्रतिध्वनित होती है। वे एक ही ईश्वर को मानते थे और कर्मकाण्ड के घोर विरोधी थे। अवतार, मूर्त्ति, रोजा, ईद, मसजिद, मंदिर आदि को वे नहीं मानते थे।

कबीर के नाम से मिले ग्रंथों की संख्या भिन्न-भिन्न लेखों के अनुसार भिन्न-भिन्न है। एच.एच. विल्सन के अनुसार कबीर के नाम पर आठ ग्रंथ हैं। विशप जी.एच. वेस्टकॉट ने कबीर के 84 ग्रंथों की सूची प्रस्तुत की तो रामदास गौड ने 'हिंदुत्व' में 71 पुस्तकें गिनायी हैं।

कबीर की वाणी का संग्रह 'बीजक' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके तीन भाग हैं-रमैनी, सबद और सारवी यह पंजाबी, राजस्थानी, खड़ी बोली, अवधी, पूरबी, ब्रजभाषा आदि कई भाषाओं की खिचड़ी है।

कबीर परमात्मा को मित्र, माता, पिता और पति के रूप में देखते हैं। यही तो मनुष्य के सर्वाधिक निकट रहते हैं। वे कभी कहते हैं–

'हरिमोर पिउ, मैं राम की बहुरिया' तो
कभी कहते हैं, 'हरि जननी मैं बालक तोरा'

उस समय हिंदु जनता पर मुस्लिम आतंक का कहर छाया हुआ था। कबीर ने अपने पंथ को इस ढंग से सुनियोजित किया जिससे मुस्लिम मत की ओर झुकी हुई जनता सहज ही इनकी अनुयायी हो गयी। उन्होंने अपनी भाषा सरल और सुबोध रखी ताकि वह आम आदमी तक पहुँच सके। इससे दोनों सम्प्रदायों के परस्पर मिलन में सुविधा हुई। इनके पंथ मुसलमान-संस्कृति और गोभक्षण के विरोधी थे।

कबीर को शांतिमय जीवन प्रिय था और वे अहिंसा, सत्य, सदाचार आदि गुणों के प्रशंसक थे। अपनी सरलता, साधु स्वभाव तथा संत प्रवृत्ति के कारण आज विदेशों में भी उनका समादर हो रहा है।

वृद्धावस्था में यश और कीर्त्ति की मार ने उन्हें बहुत कष्ट दिया। उसी हालत में उन्होंने बनारस छोड़ा और आत्मनिरीक्षण तथा आत्मपरीक्षण करने के लिये देश के विभिन्न भागों की यात्राएँ कीं। इसी क्रम में वे कालिंजर जिले के पिथौराबाद शहर में पहुँचे। वहाँ रामकृष्ण का छोटा सा मन्दिर था। वहाँ के संत भगवान गोस्वामी जिज्ञासु साधक थे किंतु उनके तर्कों का अभी तक पूरी तरह समाधान नहीं हुआ था। संत कबीर से उनका विचार-विनिमय हुआ। कबीर की एक साखी ने उन के मन पर गहरा असर किया–

'बन ते भागा बिहरे पड़ा, करहा अपनी बान।
करहा बेदन कासों कहे, को करहा को जान॥'

वन से भाग कर बहेलिये के द्वारा खोये हुए गड्ढे में गिरा हुआ हाथी अपनी व्यथा किस से कहे ?

सारांश यह कि धर्म की जिज्ञासा सें प्रेरित हो कर भगवान गोसाई अपना घर छोड़ कर बाहर तो निकल आये और हरिव्यासी सम्प्रदाय के गड्ढे में गिर कर अकेले निर्वासित हो कर असंबाद्य्य स्थिति में पड़ चुके हैं।

मूर्त्ति पूजा को लक्ष्य करते हुए उन्होंने एक साखी हाजिर कर दी–

पाहन पूजे हरि मिलैं, तो मैं पूजौं पहार।
था ते तो चाकी भली, जासे पीसी खाय संसार॥

119 वर्ष की अवस्था में उन्होंने मगहर में देह त्याग किया।

कबीरदास जी का व्यक्तित्व संत कवियों में अद्वितीय है। हिन्दी साहित्य के 1200 वर्षों के इतिहास में गोस्वामी तुलसीदास जी के अतिरिक्त इतना प्रतिभाशाली व्यक्तित्व किसी कवि का नहीं है। कबीर के दर्शन पर शोध 18वीं शताब्दी में आरम्भ हो चुका था किन्तु उसका वैज्ञानिक विवेचन सन् 1900 में एच.एच.विन्सन ने किया। उन्होंने कबीर पर 8 ग्रन्थ लिखे। इसके बाद विशप जी. एच.वेप्टकॉट ने कबीर द्वारा लिखित 84 ग्रन्थों की सम्पूर्ण सूचि प्रस्तुत की। इसी प्रकार हरिऔध जी द्वारा सम्पादित कबीर वचनावलि में 21 ग्रन्थ, डॉ रामकुमार वर्मा द्वारा रचित हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में 61 ग्रन्थ तथा नागरीप्रचारिणी सभा की रिपोर्ट में 140 ग्रन्थों की सूचि मिलती है। कबीर ग्रन्थावलि में कुल 809 साखियाँ, 400 पद और 7 रमैनियाँ संग्रहित हैं।

साहित्यिक क्षेत्र में पदों और साखियों का ही अधिक प्रचार हुआ परन्तु बीजक प्राय: उपेक्षित रहा। अमृतसर के गुरुद्वारे में बीजक का ही पाठ होता है। कबीर के दार्शनिक सिद्धान्तों का सार बीजक में उपलब्ध है। कबीर का प्रमुख साहित्य रमैनी, साखी और शब्द बीजक में उपलब्ध है। डॉ पारसनाथ तिवारी ने बीजक के 02 संस्करणों की सूचि दी है।

हम कह सकते हैं कि कबीर साहित्य तीन खण्डों में विभक्त है–रमैनी, साखी और शब्द। रमैनी में जगत्, साखी में जीव और शब्द में ब्रह्म सम्बन्धी विचार हैं। रमैनी शब्द का अर्थ है संसार में जीवों के रमण का विवेचन। साखी शब्द संस्कृत के साक्षी से आया है जिसका अर्थ है–गवाह। साखी में संत कबीर ने उन तथ्यों का वर्णन किया है जिसका अपने जीवन में स्वयं साक्षात्कार किया। शब्द (सबद) का प्रयोग दो अर्थों में किया है–एक तो परमतत्त्व के अर्थों में, और दूसरे पद के अर्थ में।

कबीर की साखी–2

चितावणी

कबीर नौबति आपनी, दिन दस लेहु बजाइ।
ए पुर पट्टन ए गली, बहुरि न देखहु आइ॥99॥

कबीर कहते हैं कि हे जीवों ! चेत जाओ। जिस वैभव में तुम लिप्त हो, वह कुछ दिनों का परचम है अर्थात् क्षणिक है। तुम्हारी मृत्यु अवश्यंभावी है। फिर इस पुर, नगर और गली को न देख सकोगे।

जिनके नौबति बाजती, मैंगल बँधते बारि।
एकै हरि के नाँव बिन, गए जनम सब हारि॥100॥

जिनके द्वार पर वैभव-सूचक नगाड़े बजते थे और मतवाले हाथी झूमते थे, उनका जीवन भी प्रभु के नाम-स्मरण के अभाव में सर्वथा व्यर्थ ही हो गया।

ढोल दमामा डुगडुगी, सहनाई औ भेरि।
औसर चले बजाइ करि, है कोइ लावै फेरि॥101॥

इस जीवन में वैभव प्रदर्शन हेतु बाजे जैसे ढोल, धौंसा, डुगडुगी, शहनाई और भेरी विशेष अवसरों पर बजाए जाते हैं। परन्तु जीवन इतना क्षण-भंगूर है कि जो अवसर बीत गया, उसे पुनः वापस नहीं लाया जा सकता है।

सातौ सबद जु बाजते, घरि घरि होते राग।
ते मंदिर खाली पड़े, बैठन लागे काग॥102॥

जिन मंदिरों और प्रासादों में सातों स्वर के बाजे बजते थे और विभिन्न प्रकार के राग गाए जाते थे, वे आज खाली पड़े हुए हैं और उन पर कौए बैठते हैं। सांसारिक वैभव की यही क्षणभंगुरता है।

कबीर थोड़ा जीवना, माड़ै बहुत मँडान।
सबही ऊभा मेल्हि गया, राव रंक सुलतान॥103॥

कबीर कहते हैं कि क्षणिक जीवन के लिए मनुष्य बड़े-बड़े आयोजन करता है, किन्तु चाहे वह बहुत बड़ा राजा या सुलतान हो या साधारण, दरिद्र मनुष्य, सभी की बड़े उत्साह से निर्मित योजनाएँ ध्वस्त हो जाती है। अर्थात् राजा-रंक भी हो जाते हैं और उनकी योनजाएँ भी ध्वस्त हो जाती हैं।

इक दिन ऐसा होइगा, सब सौ परै बिछोह।
राजा राना छत्रपति, सावधान किन होइ॥104॥

कबीर चेतावनी देते हैं कि चाहे कोई राजा, राणा या छत्रपति हो, सबके लिए एक ऐसा दिन आएगा, जब उसे संसार से सब कुछ त्यागकर इस लोक से जाना होगा। इसलिए हे मनुष्यों ! समय रहते ही सावधान क्यों नहीं हो जाते ?

कबीर पट्टन कारिवाँ, पंच चोर दस द्वार।
जम राना गढ़ भेलिसी, सुमिरि लेहु करतार॥105॥

कबीर कहते हैं कि जीव (सौदागर) इस शरीर रूपी नगर को एक सुरक्षित स्थान समझकर सारा सांसारिक व्यवहार अर्थात् व्यापार टिका हुआ है। किन्तु उसे यह ज्ञात नहीं कि इस शरीर रूपी नगर में पाँच चोर (काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह) विद्यामन हैं और इसमें दस द्वार भी हैं। यह वैसा सुरक्षित और अभेद्य दुर्ग

नहीं है, जैसा कि अज्ञानी जीवों ने समझ रखा है। इस दुर्ग पर यमराज का आक्रमण भी होगा और वह क्षणभर में इस गढ़ को ध्वस्त कर देगा। इसलिए हे जीवों ! स्रष्टा का स्मरण कर लो।

कबीर कहा गरबियो, इस जोवन की आस।
केसू फूले दिवस दोइ, खंखर भये पलास॥106॥

कबीर कहते हैं कि यौवन पर गर्व करना व्यर्थ है। यह क्षणभंगुर है। पलाश के फूल के समान इसकी बहार थोड़े दिनों के लिए है। जैसे यह फूल थोड़े ही दिनों में मुर्झा कर गिर जाता है, वैसे ही जवानी की प्रफुल्लता भी अल्प दिनों की होती है। कुछ दिनों के पश्चात जैसे पलाश पत्र-पुष्प-विहीन होकर ठूँठमात्र रह जाता है, वैसे ही यह शरीर भी यौवन-विहीन होकर कंकालमात्र रह जाता है।

कबीर कहा गरबियो, देही देखि सुरंग।
बीछड़ियाँ मिलिबो नहीं, ज्यों काँचली भुवंग॥107॥

कबीर कहते हैं कि इस सुन्दर शरीर को देखकर क्यों गर्व करते हो? मृत्यु होने पर यह शरीर जीव को वैसे ही फिर नहीं मिल सकता, जैसे सर्प केंचुल को त्याग देने पर पुनः उसे धारण नहीं कर सकता।

कबीर कहा गरबियो, ऊँचे देखि अवास।
काल्हि परौ भुई लोटना, ऊपरि जमिहै घास॥108॥

कबीरदास कहते हैं कि ऊँचे-ऊँचे महलों को देखकर क्यों गर्व करते हो? शीघ्र ही निधन होने पर जमीन के अन्दर लेटना होगा अर्थात् दफना दिए जाओगे और ऊपर घास जम जाएगी।

कबीर कहा गरबियो, चाँम पलेटे हाड़।
हैबर ऊपरि छत्र सिरि, ते भी देबा गाड़॥109॥

कबीरदास कहते हैं कि चमड़े से लपेटी हुई हड्डियों पर क्यों गर्व करते हो ? जो लोग श्रेष्ठ घोड़ों पर चढ़ते हैं और जिनके सिरों पर छत्र लगते हैं, वे भी एक दिन मिट्टी में दफना दिए जाते हैं।

कबीर कहा गरबियो, काल कर केस।
नाँ जानौं कहँ मारिहै, कै घर कै परदेस॥110॥

कबीरदास कहते हैं कि काल ने अपने हाथों से तुम्हारे केश को पकड़ रखा है। इसलिए तुम व्यर्थ में क्यों गर्व करते हो? घर हो या परदेश, वह तुम्हें कहाँ मार डालेगा यह तुम भी नहीं जानते हो।

ऐसा यहु संसार है, जैसा सैंबल फूल।
दिन दस के व्यौहार में, झूठै रंगि न भूल॥111॥

यह संसार सेमर के फूल के समान है, जो ऊपर से देखने में सुन्दर और मोहक प्रतीत होता है, किन्तु उसके भीतर कोई तत्त्व नहीं होता। अल्पकाल के जीवन और उसकी विरंगात्मक भुलावे में नहीं आना चाहिए।

जीवन मरन बिचारि करि, कूरे काँम निवारि।
जिहिं पंथा तोहि चालनां, सोई पंथ सँवारि॥112॥

कबीरदास कहते हैं कि जीवन-मरण का विचार कर अर्थात् यह समझ ले कि जीवन थोड़े दिन का है, अन्ततः मरना है। इसलिए अक्षम्य कर्मों का परित्याग कर और जिस भक्ति मार्ग पर तुझे चलना है, उसे अभी से सुधार ले।

राखनहारे बाहिरा, चिड़ियौं खाया खेत।
आधा परधा ऊबरै, चेति सकै तौ चेति॥113॥

तेरे आध्यात्मिक जीवन-क्षेत्र का रक्षक बाहर ही बाहर है अर्थात् तुझे कोई सद्गुरू नहीं मिला और ऊपर से विषय-वासना रूपी पक्षी तेरे खेत को खाए जा रहे हैं। तू अब भी चेत जा और थोड़ा-बहुत जो बचा सके, उसे बचा ले अर्थात् अब भी आध्यात्मिक जीवन को बाहरी आक्रमणों से सुरक्षित कर ले।

हाड़ जरै ज्यौं लाकड़ी, केस जरैं ज्यों घास।
सब तन जलता देखि करि, भया कबीर उदास॥114॥

मृत्यु के उपरान्त हड्डियाँ लकड़ी के समान जलती हैं और केश घास के समान। सारे शरीर को जलता देखकर कबीर को संसार से विराग हो गया।

कबीर मंदिर ढहि पड़ी, इंर्ट भई सैवार।
कोई चेजारा चिनि गया, मिला न दूजी बार॥115॥

कबीर कहते हैं कि अद्भुत स्रष्टा ने इस सुन्दर शरीर (मंदिर) को बनाया है, किन्तु एक दिन वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है और उसकी हड्डियों पर, जहाँ वह दफनाया जाता है, घास-फूस जम जाती है। उसका निर्माता उसी शरीर (मंदिर) को फिर बनाने के लिए नहीं मिलता।

कबीर देवल ढहि पड़ा, इंर्ट भई संवार।
करि चिजारा सौं प्रीतिड़ी, ज्यँ ढहै न दूजी बार॥116॥

कबीर कहते हैं कि यह शरीर रूपी देवालय ध्वस्त हो गया और इसकी इंर्टों पर घास-फूस जम गई अर्थात् शरीर का मांस और हड्डियाँ जो दफनाई गई

थीं, उन पर अब घास-फूस दिखलाई देती है। हे जीव! तू इसके निर्माता प्रभु से प्रेम कर, जिससे दूसरी बार इस देवालय के ढहने का अवसर ही न आए।

कबीर मंदिर लाख का, जड़िया हीरै लालि।
दिवस चारि पा पेखनाँ, बिनसि जाइगा कालि॥117॥

कबीर कहते हैं कि यह शरीर लाक्षागृह के समान है, जो हीरे-लाल से जड़ा गया है अर्थात् बहुमूल्य बनाया गया है। किन्तु यह चार दिन का दिखावा है और अल्पकाल में ही विनष्ट हो जायगा।

कबीर धूलि सकेलि करि, पुड़ी ज बाँधी एह।
दिवस चारि का पेखनाँ, अंति खेह की खेह॥118॥

कबीर कहते हैं कि यह शरीर ऐसा है जैसे किसी ने धूल एकत्र कर कोई पिंड या पुड़िया बाँधकर रख दिया हो। यह तो अल्पकाल का दिखावा है। जिस मिट्टी से यह बना है, अन्ततः उसी मिट्टी में मिल जाता है।

कबीर जे धंधै तो धूलि, बिन धंधै धूलै नहीं।
ते नर बिनठे मूलि, जिनि धंधै मैं ध्याया नहीं॥119॥

कबीर कहते हैं कि कर्मों से भागने से काम नहीं चलेगा। यदि कर्म को करते रहोगे तो तुम्हारा अन्तःकरण धुल जाएगा। तुम स्वच्छ हो जाओगे। बिना कर्म किये स्वच्छता नहीं आती। कर्म से कोई नष्ट नहीं होता। वही व्यक्ति मूलतः नष्ट हो जाते हैं, जो कर्म में ईश्वर का ध्यान नहीं रखते।

कबीर सुपनै रैनि कै, ऊघड़ि आए नैन।
जीव परा बहु लूट में, जागै लेन न देन॥120॥

कबीर कहते हैं कि जीवन अज्ञान रूपी रात्रि का स्वप्न है। उसमें जीव नाना प्रकार के सुख-दुःख, लाभ-हानि का अनुभव करता है। परन्तु वे सब अनुभव स्वप्न के समान हैं। ज्ञान-चक्षु खुल जाने पर जीव को यह विश्वास हो जाता है कि अज्ञान रूपी निद्रा में पड़े हुए लाभ-हानि का जीवन स्वप्नवत् व्यर्थ है।

कबीर सुपनैं रैनि कै, पारस जीय मैं छेक।
जे सोऊँ तौ दोइ जनाँ, जे जागूँ तौ एक॥121॥

कबीर कहते हैं कि अज्ञान की रात्रि में जब जीव स्वप्न देखता है तो ब्रह्म और जीव में सर्वथा पृथक प्रतीत होता है। वह जब तक इस अज्ञान-निद्रा में रहता है, तब तक आत्मा और परमात्मा दो अलग-अलग जान पड़ते हैं। जब वह अज्ञान-निद्रा से जगता है, तब उसे दोनों एक ही प्रतीत होते हैं।

कबीर इस संसार में, घने मनुष मतिहीन।
राम नाम जानै नहीं, आये टापा दीन॥122॥

कबीर कहते हैं कि इस संसार में अधिकतर मनुष्य सर्वथा बद्धिमान होते हुए भी वे अपनी आँखों पर अज्ञान की पट्टी बाँधे रहते हैं। इसीलिए वे राम नाम के मर्म को नहीं जानते।

कहा कियो हम आइ करि, कहा कहैंगे जाइ।
इतके भये न उत के, चाले मूल गँवाइ॥120॥

जीव को स्वयं पर पछतावा हो रहा है कि इस संसार में आकर हमने क्या किया, इस विषय में यहाँ से जाने के बाद प्रभु के सामने हम क्या कहेंगे ? हम न तो इस लोक के हुए, न परलोक के। हमने अपनी नैसर्गिक सरलता भी गँवा दिया।

आया अनआया भया, जे बहु राता संसार।
पड़ा भुलावा गाफिलाँ, गये कुबुद्धी हारि॥124॥

जीव संसार के विषयों में इतना अनुरक्त हो जाता है कि उसका संसार में आना न आने के बराबर है अर्थात् संसार में जन्म लेकर उसे जो सीखना था, उसे वह न सीख सका। इसलिए उसका जीवन व्यर्थ हो जाता है। भुलावे में पड़कर वह गाफिल हो गया। सांसारिक विषयों के मायाजाल में वह अपनी नैसर्गिक आत्मीय चेतना खो बैठता है और अपनी कुबुद्धि के कारण जीवन की बाजी हार जाता है।

कबीर हरि की भगति बिन, ध्रिग जीवन संसार।
धूँवाँ केरा धौलहर, जातन लागै बार॥125॥

कबीर कहते हैं कि ऐसे जीवन को धिक्कार है, जो मानव जीवन पाकर भी प्रभु की भक्ति नहीं करता। जैसे धुएँ का महल देखने में तो बहुत प्रिय लगता है, किन्तु वह सर्वथा निस्सार होता है, वैसे ही मानव-जीवन चाहे और सब बातों में कितना सुन्दर क्यों न हो, किन्तु प्रभु-भक्ति के बिना सर्वथा सारहीन हैं।

जिहि हरि की चोरी करी, गये राम गुन भूमि।
ते बिधना बागुल रचे, रहे अरध मुखि झूलि॥126॥

जो प्रभु के भजन से जी चुराते हैं और राम के गुणों को भूल जाते हैं, उन्हें ब्रह्मा ने बगुले के रूप में बनाया है, जो कि मछली की खोज में नीचे सिर लटकाये रहते हैं।

माटी मलनि कुँभार की, घनी सहै सिरि लात।
इहि औसरि चेत्या नहीं, चूका अबकी घात॥127॥

जिस प्रकार मिट्टी को आकार ग्रहण में कुम्हार द्वारा रौंदने की क्रिया में अनेक लातें सहनी पड़ती हैं, उसी प्रकार जीव को संसार में रूप ग्रहण करने में काल और कर्मों की अनेक यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। मानव-जीवन ही एक ऐसा अवसर है जब वह अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। यदि वह इस अवसर में नहीं चेतता तो अपना दाँव हमेशा के लिए चूक जाता है और मुक्ति की प्राप्ति कठिन हो जाती है।

इहि औसरि चेत्या नहीं, पसु ज्यों पाली देह।
राम नाम जाना नहीं, अंत परी मुख खेह॥128॥

इस मानव-जीवन रूपी सुन्दर अवसर को पाकर भी यदि तूने परमार्थ के विषय में नहीं सोचा और पशुओं के समान केवल देह को पालने में लगा रहा और राम-नाम के महत्त्व को नहीं पहचाना तो अन्त में तुझे नष्ट होकर मिट्टी में मिल जाना होगा।

राम नाम जाना नहीं, लागी मोटी खोरि।
काया हांडी काठ की, ना ऊँ चढ़ै बहोरि॥129॥

मानव शरीर पाकर यदि राम-नाम के महत्त्व को नहीं समझा तो यह जीवन ही दोषपूर्ण हो जायेगा। यह शरीर काठ की हाँड़ी के समान है, जो कि आग पर सिर्फ एक बार ही चढ़ सकती है। अर्थात् एक बार प्राण निकल जाने पर पुनः जीवन का संचार नहीं हो सकता। साधना के लिए फिर शरीर न मिलेगा, इसलिए हे जीव ! इसी जीवन में शरीर रहते ही साधना में प्रवृत्त हो जा।

राम नाम जाना नहीं, बात बिनंठी मूलि।
हरत इहाँ ही हारिया, परति पड़ी मुखि धूलि॥130॥

हे जीव! तूने राम नाम के यश को नहीं जाना तो फिर प्रारम्भ में ही बात बिगड़ गयी। तू इस संसार में धन, यश, कामिनी, कंचन, कादम्बिनी आदि का हरण करता रहा। परन्तु इस हरण करने में तू अपने को ही खो बैठा। तेरा मानव जीवन ही व्यर्थ हो गया और अन्ततः तेरे मुख में धूल की पर्तें जमा हो गईं अर्थात् तू मिट्टी में मिल गया।

राम नाम जाना नहीं, पाल्यो कटक कुटुम्ब।
धंधा ही में मरि गया, बाहर हुई न बंब॥131॥

हे जीव! तूने राम नाम के महत्त्व को नहीं जाना और अपना सारा जीवन एक सेना के समान बड़े कुटुम्ब के पालने में ही व्यतीत कर दिया। सांसारिक कृत्यों में ही विनष्ट हो गया और तेरा यशोगान, तेरी कीर्ति प्रकाशित न हो सकी।

मानुष जनम दुलभ है, होइ न बारंबार।
पाका फल जो गिरि परा, बहुरि न लागै डार॥132॥

यह मानव जन्म अति दुर्लभ है। मानव शरीर बार-बार नहीं मिलता। एक बार जब फल वृक्ष से गिर पड़ता है, तब वह फल शाखा से पुनः नहीं जुड़ सकता, वैसे ही एक बार मानव शरीर के क्षीण हो जाने पर वह पुनः नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिए इस अवसर को न चूक। इस शरीर के रहते हुए प्रभु-साधना में लग जा।

कबीर हरि की भगति करि, तजि बिषिया रस चौज।
बार बार नहिं पाइए, मनिषा जन्म की मौज॥133॥

कबीर कहते हैं कि हे जीव! मानव जन्म का उल्लासपूर्ण शुभ अवसर बार-बार नहीं मिलता। इसलिए इस जन्म को पाकर विषय-रस के चमत्कार और आस्वाद को छोड़कर तू प्रभू की भक्ति करता रह।

कबीर यहु तन जात है, सकै तो ठौर लगाय।
कै सेवा करि साधु की, कै गोविंद गुन गाय॥134॥

कबीर कहते हैं कि यह मानव शरीर नश्वर है। इसलिए हे जीव! इसके रहते हुए तू इसका सदुपयोग कर ले। तू या तो सन्तों की सेवा कर अथवा गोविन्द के गुणगान से अपने जीवन को सार्थक बना।

कबीर यहु तन जात है, सकै तो लेहु बहोरि।
नांगे हाथौं ते गए, जिनके लाख करोरि॥135॥

कबीर कहते हैं कि हे जीव! यह तेरा मानव शरीर व्यर्थ में नष्ट हो रहा है। यह आकर्षक विषयों, सम्पत्ति के संग्रह आदि में विनष्ट हो रहा है। हो सके तो इसको इन क्षणिक सुखों और प्रलोभनों से बचा ले, क्योंकि सम्पत्ति-संग्रह से कोई लाभ न होगा। जिन्होंने लाखों-करोडों कमाया, वे भी इस संसार से खाली हाथ चले गये।

यह तन काचा कुंभ है, चोट चहूँ दिसि खाइ।
एक राम के नाँव बिन, जिद तदि परलै जाइ॥136॥

यह शरीर कच्चे घड़े के समान है। जिस प्रकार कच्चे घड़े को कुम्भकार के अनेक थपेड़े सहन करना पड़ता है, उसी प्रकार मनुष्य को जीवन में अनेक

यातनाओं को सहन करना पड़ता है। उसे किसी ओर भी शान्ति के लिए सहारा नहीं मिलता। इसलिए हे जीव! तू राम नाम में अपना ध्यान लगा, क्योंकि तेरे जीवन का कोई ठिकाना नहीं है, वह चाहे जब विनष्ट हो सकता है।

यह तन काचा कुंभ है, लियाँ फिरै था साथि।
ठपका लागा फुटि गया, कछू न आया हाथि॥137॥

यह शरीर, जिसे तू बड़े गर्व के साथ लिये घूम रहा है, कच्चे घड़े के समान है, जो जरा-सा धक्का लगने से फूट जाता है और फिर कुछ भी हाथ नहीं आता। तेरा शरीर भी वैसा ही नश्वर है। इसका कोई ठिकाना नहीं।

काँची कारी जिनि करै, दिन दिन बधै बियाधि।
राम कबीरै रुचि भई, याही ओषदि साधि॥138॥

हे जीव ! तू टालमटोल की प्रवृत्ति का परित्याग कर। तेरी भव-व्याधि दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। कबीर को राम के प्रति अनुराग हो गया है, जिससे यह उसे तंग नहीं कर पाती। हे जीव! तू भी इसी औषधि का अपने बचाव के लिए प्रयोग कर।

कबीर अपने जीव तैं, ए दोइ बातैं धोइ।
लोभ बड़ाई कारनैं, अछता मूल न खोइ॥139॥

कबीर कहते हैं कि हे जीव! अपने मन से तुम दो बातों को निकाल फेंको-एक तो लोग, दूसरे आत्म-प्रशंसा की तृष्णा। इन दोनों दोषों के कारण अपने पास विद्यमान आत्मा रूपी पूँजी को मत खोओ।

खंभा एक गयंद दोइ, क्यों करि बंधसि बारि।
मानि करै तौ पिउ नहीं, पीव तौ मानि निवारि॥140॥

हे जीव! खम्भा रूपी शरीर एक ही है और अहंभाव और प्रेम रूपी हाथी दो हैं। दोनों को तू एक साथ कैसे बाँध सकेगा? यह कैसे सम्भव है? यदि तू अहंभाव में रहता है तो उसके साथ प्रिय नहीं रह सकते। यदि तू प्रिय अर्थात् प्रभु को रखना चाहता है तो मान को निकालना पड़ेगा।

दीन गँवाया दुनी सौं, दुनी न चाली साथि।
पाइ कुहाड़ा मारिया, गाफिल अपनैं हाथि॥141॥

हे जीव! तुमने सांसारिक मोह में अपना धर्म खो दिया, परन्तु वह संसार जिसके लिए तुमने अपना धर्म खो दिया, तेरे साथ न गयी। तू इतना अचेतन है कि अपने ही हाथों अपने पैर में तूने कुल्हाड़ी मार ली है अर्थात् अपने मोह से तूने स्वयं अपना जीवन नष्ट कर लिया है।

यह तन तो सब बन भया, करम जु भए कुहारि।
आप आपकौं काटिहैं, कहैं कबीर बिचारि॥142॥

यह शरीर वन के समान है और कर्म कुल्हाड़ी। कबीर विचार कर कहते हैं कि हे जीव! तू अपने ही कर्म रूपी कुल्हाड़ी से अपने जीवन रूपी वन को काट रहा है अर्थात् नष्ट कर रहा है।

कुल खोये कुल ऊबरै, कुल राखे कुल जाइ।
राम निकुल कुल भेंटि, सब कुल रहा समाइ॥143॥

जो केवल ससीम, कुटुम्ब, वंश आदि के मोह में पड़ा रहता है, वह वास्तविक कुल अर्थात् पूर्ण, ब्रह्म या भूमा को खो देता है। कुटुम्ब आदि ससीम के मोह में पड़े रहने से पूर्ण या सर्वस्व की प्राप्ति नहीं हो पाती है। राम निकुल हैं उसी में तू वंश आदि ससीम का समर्पण कर दे। उसी में ससीम समाया हुआ है अर्थात् वह सब में व्याप्त है।

दुनियाँ के धौखे मुवा, चलै जु कुल की कांनि।
तब कुल किसका लाजसी, जब ले धरहिं मसांनि॥144॥

हे जीव! तू कुल की गौरव-वृद्धि में पड़ा रहता है। इसी कारण संसारिक भुलावे में मारा जाता है। जब तुझे लोग श्मशान में लिटा देंगे, तब किसका कुल लज्जित होगा ? अर्थात् जिस कुल की मर्यादा-वृद्धि में तू पड़ा रहता है, उससे तेरा सम्बन्ध ही छूट जायगा फिर किसके कुल की प्रतिष्ठा का प्रश्न रह जायगा?

दुनियाँ भाँड़ा दुख का, भरी मुहाँमुह भूष।
अदया अल्लह राम की, कुरलै कौनी कूष॥145॥

यह संसार तृष्णा से लबालब भरे हुए पात्र स्वरूप है। अत: यह दु:ख का भण्डार है। इसमें पूर्ण तृप्ति के लिए प्रयास करना व्यर्थ है। अल्लाह या राम की दया के बिना यह तृष्णा समाप्त नहीं हो सकती। हे जीव! जब सारा संसार एक अतृप्त वासना का भण्डार है तो ऐसे संसार में किस खजाने के लिए चीखता रहता है?

जिहि जेवरी जग बंधिया, तू जिनि बंधै कबीर।
हृवैसी आटा लोन ज्यौं, सोना सवां सरीर॥146॥

कबीर कहते हैं कि जिस माया की रज्जु से जगत् बँधा हुआ है, तू उसमें मत फँस। यदि तू उसमें फँसता है तो तेरा यह सोने के समान बहुमूल्य शरीर अर्थात् मानव जीवन का व्यक्तित्व वैसे ही हो जायेगा जैसे आटा में नमक मिलाने पर इस प्रकार घुल-मिल जाता है कि उससे पृथक् नहीं किया जा सकता।

कहत सुनत जग जात है, विषय न सूझै काल।
कबीर प्यालै प्रेम के, भरि भरि पिबै रसाल॥147॥

उपदेशों को कहते और सुनते हुए संसार के लोगों का जीवन समाप्त होता जाता है। विषय में पड़े हुए उन्हें काल की सुधि नहीं रहती। किन्तु कबीर जैसे सन्त विष के प्याले को मुख से नहीं लगाते। वे मधुर, प्रेम से परिपूर्ण प्याले को छक-छककर पीते हैं।

कबीर हद के जीव सौं, हित करि मुखाँ न बोलि।
जे राचे बेहद सौं, तिन सौं अंतर खोलि॥148॥

कबीर कहते हैं कि ससीम में फँसे हुए लोगों की संगत में मत पड़ो। उनसे अधिक प्रेम की वाणी न बोलो, अन्यथा तुम भी उनकी बातों में फँस जाओगे। जो साधक असीम में अनुरक्त हैं, उन्हीं से तुम अपने हृदय की बात कहो। उन्हीं की संगत करो और उन्हीं की बातों पर चलो।

कबीर केवल राम की, तूँ जिनि छाड़ै ओट।
घन अहरन बिच लोह ज्यौं, घनो सहै सिरि चोट॥149॥

कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू केवल प्रभु का स्मरण कर, केवल उसी को अपना अवलम्ब बना। वही तुझको सब दु:खों मुक्त कर सकता है, अन्यथा जैसे निहाई पर रखा हुआ लोहा हथौड़े की चोट से पीटा जाता है, वैसे ही तुझे सिर पर सांसारिक दु:खों की चोट सहनी पड़ेगी।

कबीर केवल राम कह, सुद्र गरीबी झालि।
कूर बड़ाई बूड़सी, भारी पड़सी कालि॥150॥

कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू अपनी गरीबी को झेलते हुए केवल प्रभु का स्मरण कर। व्यर्थ का बड़प्पन नष्ट हो जायेगा और भविष्य में यह तुझे बहुत मँहगा पड़ेगा। तू उसके बो झ से दब जायेगा।

काया मंजन क्या करै, कपड़ा धोइम धोइ।
ऊजर भए न छूटिए, सुख नींदरी न सोइ॥151॥

कबीर कहते हैं कि हे जीव! तूने स्वच्छता के वास्तविक मर्म को नहीं समझा है। तू शरीर और कपड़ों को धोकर स्वच्छता का व्यर्थ आडम्बर करता है। वास्तविक स्वच्छता मन की है। काया और वस्त्र के स्वच्छ होने से नहीं वरन् केवल मन की स्वच्छता से ही मुक्त होगा। इसलिए बाह्य स्वच्छता को वास्तविक स्वच्छता समझकर निश्चिन्त मत रह। सर्वदा आन्तरिक परिष्कार का प्रयास करता रह।

ऊजल कपड़ा पहिरि करि, पान सुपारी खाँहि।
एकै हरि का नाँव बिन, बाँधे जमपुरि जाँहि॥152॥

कबीर कहते हैं कि लोग प्राय: श्वेत वस्त्र धारण करते हैं और अपने मुख को सुशोभित करने के लिए पान-सुपारी का सेवन करते हैं। किन्तु प्रभु के भजन के बिना इस बाह्य सजावट से काम नहीं चलेगा। केवल हरि-स्मरण से ही मुक्ति होगी।

तेरा संगी कोइ नहीं, सब स्वारथ बँधी लोइ।
मन परतीति न ऊपजै, जीव बेसास न होइ॥153॥

हे जीव! तेरा कोई परम मित्र नहीं है, सब लोग अपने-अपने स्वार्थ में बँधे हुए हैं। परन्तु तू ऐसा अज्ञानी है कि इस कटु सत्य के प्रति तेरे मन में प्रतीति नहीं होती और न तेरे हृदय में विश्वास जमता है। कोई भी तेरे साथ न जाएगा।

माँइ बिड़ाँणी बाप बिड़, हम भी मंझि बिड़ाँह।
दरिया केरी नाँव ज्यों, सँजोगे मिलि जाँहि॥154॥

जगत् में सारे सम्बन्ध क्षणिक और संयोगजनक हैं। माँ भी पराई है, पिता भी पराया है और हम सब भी पराए लोगों के बीच में हैं। इनमें से कोई अपना निजी व्यक्ति नहीं है। संसार में हम लोग उसी प्रकार संयोगवश मिल जाते हैं जैसे भिन्न-भिन्न स्थानों से आई हुई नौकाएँ समुद्र या नदी में अकस्मात् मिल जाती हैं।

इत पर घर उत घर, बनिजन आए हाट।
करम किरानाँ बेंचि करि, उठि कर चाले बाट 155॥

यह संसार जीव का नैसर्गिक धाम नहीं है। वास्तविक धाम तो केशवधाम है, जहाँ से हम आए हैं। संसार एक बाजार के समान है, जहाँ पर लोग वाणिज्य के लिए आते हैं और अपना कर्म रूपी सौदा बेचकर अपने-अपने मार्ग पर चले जाते हैं। इसलिए हे जीव! संसार तेरा वास्तविक धाम नहीं है वरन् प्रभु ही तेरा वास्तविक शाश्वत धाम है।

नाँन्हाँ काती चित्त दे, मँहगे मोलि बिकाइ।
गाहक राजा राम हैं, और न नेड़ा आइ॥156॥

हे जीव! तू मन लगाकर बारीक कताई कर, क्योंकि बारीक सूत मँहगे दामों पर बिकता है अर्थात् तू अच्छे कर्म कर। उसका ही बड़ा मूल्य होगा और उसके ग्राहक कोई सांसारिक राजा नहीं, स्वयं प्रभु होंगे। कोई दूसरा तेरे निकट नहीं आएगा। इस माल को कोई दूसरा न खरीद सकेगा।

डागल ऊपरि दौरनां, सुख नींदड़ी न सोइ।
पुन्नैं पाए द्यौहड़े, ओछी ठौर न खोइ॥157॥

हे जीव! यह मानव जीवन पुष्पों की शय्या नहीं अपितु ऊबड़-खाबड़ कंटकाकीर्ण मार्ग पर दौड़ने के समान है। लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कठिन साधना करनी पड़ेगी। क्षुद्र सांसारिक सुखों में लिप्त होकर सुख की नींद न सो। अपने शुभ कर्मों और पुण्य के प्रताप से तुझे देवालय के समान यह पवित्र मानव शरीर प्राप्त हुआ है। इसे तुच्छ कार्यों में लगाकर तू नष्ट न कर।

मैं मैं बड़ी बलाइ है, सकै तो निकसो भागि।
कब लग राखौं हे सखी, रुई पलेटी आगि॥158॥

अहं बुद्धि, आपा बहुत बड़ा रोग है। इसलिए तू उससे मुक्त होने का प्रयत्न कर। क्योंकि 'मैं मैं' से लिप्त बुद्धि आग से लिपटी हुई रूई के समान है, जो तेरे सारे जीवन को नष्ट कर देगी।

मैं मैं मेरी जिनि करै, मेरी मूल बिनास।
मेरी पग का पैखड़ा, मेरी गल की पास॥159॥

हे जीव! अहंभाव और ममत्व पैरों की बेड़ी और गले की फाँसी के समान है। अत: अहंभाव और मेरेपन से दूर रह। अन्यथा यह तेरे जीवन के मूल को ही नष्ट कर डालेगा।

कबीर नाव जरजरी, कूड़े खेवनहार।
हलके हलके तिरि गए, बूड़े जिन सिर भार॥160॥

कबीर कहते हैं कि भव-सागर से पार जाने के लिए यह प्राण, मनयुक्त मानव तन एक नाव के समान है। यह ऐसी नाव है, जो कि एक तो जर्जर हो चुकी है अर्थात् इसमें मोह, मद, राग, द्वेष आदि के छिद्र हो गए हैं, दूसरे इसका नाविक वासना और अहंभावयुक्त अज्ञानी मन है, जो कि सर्वथा निकम्मा है। ऐसी नाव से जीवन-यात्रा कैसे पूरी हो सकती है। जिन लोगों ने भक्ति और साधना से अपनी वासना और अहंभाव को त्याग कर अपने को हल्का कर लिया है, वे ही इस भव-सागर को पार कर सकते हैं।

मधि

कबीर मधि अंग जे को रहै, तो तिरत न लागै बार।
दुइ-दुइ अंग सूँ लाग करि, डूबत है संसार॥161॥

कबीर कहते हैं कि जो मध्य मार्ग का अनुसरण करता है, उसे संसार रूपी भवसागर पार करते देर नहीं लगती। जो द्वन्द्व अर्थात सुख-दु:ख, प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि में लिप्त रहता है, वही संसार में डूबता है।

कबीर दुविधा दूरि करि, एक अंग ह्वै लागि।
यहु सीतल वहु तपपि है, दोऊ कहिए आगि॥162॥

कबीर कहते हैं कि संशय को छोड़कर, अतिवादी दृष्टियों को त्यागकर मध्यम वर्ग में लग जाना चाहिए। अत्यधिक शीतलता और अत्यधिक ताप दोनों अग्नि के समान विनाशक होते हैं। इसलिए मध्यम मार्ग ही श्रेष्ठ है।

अनल आकासाँ घर किया, मद्धि निरन्तर बास।
वसुधा व्योम बिरकत रहै, बिना ठौर बिस्वास॥160॥

एक पक्षी अन्तरिक्ष में अपना नीड़ बनाता है और आकाश तथा पृथ्वी भूलोक और स्वलोक के बीच में ही निरन्तर वास करता है। यद्यपि अन्तरिक्ष में कोई प्रत्यक्ष आश्रय नहीं है, तथापि अपने दृढ़ विश्वास से वह वहाँ स्थित रहता है। ठीक इसी प्रकार साधक को द्वन्द्वों से अलग रहकर 'सहज-समरस' अवस्था में स्थित रहना चाहिए।

बासुरि गमि नारैनि गमि, नाँ सुपिनंतर गंम।
कबीर तहाँ विलंबिया, जहाँ छाँह नहिं धंम॥164॥

कबीर कहते हैं कि मैं उस द्वन्द्वातीत अवस्था में स्थित हूँ जहाँ न दिन की पहुँच है, न रात की, जो स्वप्नों में भी नहीं जाना जा सकता और न जहाँ छाया है, न धूप।

जिहि पैंडै पंडित गए, दुनियाँ परी बहीर।
औघट घाटी गुर कही, तिहिं चढ़ि रहा कबीर॥165॥

जिस मार्ग से शास्त्रज्ञानी पंडित और संसार की भीड़ चलती रहती है, कबीर उस मार्ग पर नहीं चले। परमतत्त्व का मार्ग अत्यन्त दुर्गम है। वह दुर्गम, कठिन और सँकरा मार्ग गुरू ने बतलाया और कबीर ने उसी मार्ग का अनुसरण कर परमतत्त्व तक आरोहण किया।

सुरग नरक मैं रहा, सतगुर के परसादि।
चरन कँवल की मौज मैं, रहौं अंति अरु आदि॥166॥

सत्गुरु की कृपा से मैं स्वर्ग-नरक दोनों से विरत हूँ। ये दोनों भोग के स्थल हैं। इनमें जन्म-मरण का चक्कर लगा रहता है। मैं तो निरन्तर प्रभु के चरण-कमल के आनन्द में मग्न रहता हूँ।

हिन्दू मूये राँम कहि, मूसलमान खुदाइ।
कहै कबीर सो जीवता, दुइ मैं कदे न जाइ॥167॥

हिन्दू लोग परमतत्त्व के लिए 'राम-राम' रटते हुए और मुसलमान 'खुदा' में सीमित करके विनष्ट हो गये। कबीर कहते हैं कि वास्तव में वही जीवित हैं, जो राम और खुदा में भेद नहीं करता और दोनों में व्याप्त अद्वैत-तत्त्व को ही देखता है। जीवन की सार्थकता इस भेद-बुद्धि से ऊपर उठना है।

दुखिया मूवा दुख कौं, सुखिया सुख कौं झूरि।
सदा अनंदी राँम के, जिनि सुख-दुख मेल्हे दूरि।।168।।

दु:खी व्यक्ति दु:ख के कारण पीड़ित रहता है और सुखी अधिक सुख की खोज में चिन्तित रहता है। कबीर कहते हैं कि राम के भक्त, जिन्होंने दु:ख-सुख के द्वन्द्व का त्याग दिया है, सदा आनन्द में रहते हैं।

कबीर हरदी पीयरी, चूना ऊजल भाइ।
राँम सनेही यूँ मिलै, दोनउं बरन गँवाइ।।169।।

कबीर कहते हैं कि हल्दी पीली होती है और चूना श्वेत रंग का होता है। परन्तु जब दोनों एक में मिलते हैं, तब एक नया लाल रंग बन जाता है। इसी प्रकार जब राम और उनके भक्त मिलते हैं, तब न तो भक्त का अहंभाव रह जाता है और न ब्रह्म का निर्गुणत्व। वह भागवत पुरुष हो जाता है।

काबा फिर कासी भया, राँमहि भया रहीम।
मोट चून मैदा भया, बैठि कबीरा जीम।।170।।

सम्प्रदाय के आग्रहों को छोड़कर मध्यम मार्ग को अपनाने पर काबा काशी हो जाता है और राम रहीम बन जाते हैं। सम्प्रदायों की रूढ़ियाँ समाप्त हो जाती हैं। भेदों का मोटा आटा अभेद का मैदा बन जाता है। हे कबीर! तू इस अभेद रूपी मैदे का भोजन कर, स्थूल भेदों के द्वन्द्व में न पड़।

धरती उरु असमान बिचि, दोइ तूँबड़ा अबध।
षट दरसन संसै पड़ा, अरु चौरासी सिध।।171।।

पृथ्वी और आकाश के बीच में द्वैत-दृष्टि का तुंबा अविनाश्य है। उसका सरलता से विनाश नहीं किया जा सकता। उसी द्वैत के कारण छहों दर्शन और चौरासी सिद्ध संशय में पड़े रहते हैं तथा सत्य का अनुसरण नहीं कर पाते।

बेसास

जिनि नर हरि जठराहँ, उदिक थैं पिडं प्रकट कीयौं।
सिरे श्रवण कर चरन, जीव जीभ मुख तास दीयौ।।
उरध पाव अरध सीस, बीस पषां इम रखियौ।
अंन पान जहाँ जरै, तहाँ तैं अनल न चखियौ।।

इहि भाँति भयानक उद्र में उद्र न कबहूँ छंछरै।
कृसन कृपाल कबीर कहि, हम प्रतिपाल न क्यों करै।।172।।

जिस प्रभु ने गर्भ में रज-वीर्य से मानव शरीर का निर्माण किया, जिसने उसको कान, हाथ, पैर, जिह्वा, मुख आदि दिया, गर्भ में ऊपर पैर और नीचे सिर की दशा में दस मास तक सुरक्षित रखा। जिस जठराग्नि में भुक्त अन्न, जल आदि जीर्ण हो जाते हैं, वहाँ भी तू उस जठराग्नि से बचा रहा। इस प्रकार माँ के भयानक पेट में भी तेरा उदर कभी खाली नहीं रहा, तेरा पोषण मिलता रहा। जब उदर में इस परिस्थिति में उदार प्रभु तेरा पोषण करता रहा, कबीर कहते हैं तो वह कृपालु प्रभु अब तेरा प्रतिपालन क्यों र करेगा? अर्थात् हे मनुष्य! तू प्रभु की उदारता पर विश्वास रख। वह तेरी रक्षा करेगा।

भूखा भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग।
भाँड़ा गढ़ि जिन मुख दिया, सोई पुरवन लोग।।173।।

कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू 'भूखा-भूखा' की रट क्यों लगाता है? अपनी भूख की कहानी लोगों को क्यों सुनाता है ? जिस कृपालु प्रभु ने तेरे शरीर रूपी घड़े को गढ़कर मुख दिया है, वही उदर-पूर्ति भी करेगा।

रचनाहार कौं चीन्हि लै, खाबे कौं क्या रोइ।
दिल मन्दिर मैं पैसि करि, तांनि पछेवरा सोइ।।174।।

हे जीव! तू अपने स्रष्टा को पहचान। खाने के लिए क्यों रोता है? अपने हृदय रूपी मन्दिर में प्रविष्ट होकर तू प्रत्यग्राम्य को पहचान और विश्वास रूपी चादर ओढ़कर सुख की नींद सो अर्थात् निश्चिन्त हो जा।

राँम नाँम करि बोंहड़ा, बोहौ बीज अघाइ।
खंड ब्रह्माण्ड सूखा परै, तऊ न निष्फल जाइ।।175।।

रामनाम का बीज धारण करो और जी-भरकर अपने जीवन-क्षेत्र में बोओ। चाहे चारों ओर सूखा पड़ जाय, कहीं भी वर्षा न हो अर्थात् चाहे जैसी विकट परिस्थिति क्यों न हो, यह रामनाम का बीज अवश्य उगेगा। वह कभी निष्फल नहीं जा सकता है। रामनाम से संसिद्धि अवश्य प्राप्त होगी।

चिंतामनि चित मैं बसै, सोई चित मैं आंनि।
बिन चिंता चिंता करै, इहै प्रभु की बांनि।।176।।

तेरे अन्तर्मन में सभी वांछित पदार्थों को देनेवाला समर्थ ईश्वररूपी चितामणि विद्यमान है। तू उसी में चित्त को लगा। प्रभु का यही स्वभाव है कि वह सबका ध्यान रखते हैं, कोई उनका चिंतन करे या न करे।

कबीर का तूँ चिंतवै, का तेरे चिंते होइ।
अनचिन्ता हरि जी करै, जो तोहि चिंति न होइ॥177॥

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तू व्यर्थ की चिंता क्यों करता है? तेरे चिंता करने से होता भी क्या है? तेरे लिए जो आवश्यक है प्रभु बिना तेरे सोचे पूर्ण कर देते हैं, जिससे तुझे चिंता न करनी पड़े। इसलिए प्रभु में पूर्ण आस्था रख।

करम करीमाँ लिखि रहा अब कुछ लिखा न जाइ।
मासा घटै न लि बढ़ै, जौ कोटिक करै उपाय॥178॥

कृपालु प्रभु ने तेरे कर्मों के अनुसार फल का लेखा-जोखा तैयार कर रखा है। अब उसके आगे कुछ भी नहीं लिखा जा सकता। इसमें कुछ भी घट-बढ़ नहीं हो सकती, व्यक्ति चाहे जितना कोशिश क्यों न करे।

जाकौ जेता निरमया, ताकौं तेता होइ।
रत्ती घटै न तिल बढ़ै, जौ सिर कूटै कोई॥179॥

प्रभु ने जीव के लिए जितना भोग रच दिया है उतना ही उसे मिलता है। इसके अतिरिक्त उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता, कोई चाहे कितना ही सिर क्यों न पीट ले।

चिंता छांड़ि अचिंत रहु, साँई है समरत्थ।
पसु पंखेरू जंतु जिव, तिनकी गाँठी किसा गरत्थ॥180॥

हे जीव ! तू चिंता छोड़कर निश्चित रह। प्रभु सामर्थ्यवान है। पशु, पक्षी और अन्य जीव-जन्तुओं को भी उनकी आवश्यकता के अनुसार प्रभु ने सम्पदा एकत्र कर रखी है। जिसने उनके लिए सभी आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति की है, वही तेरे लिए करेगा।

इसंत न बाँधे गाठरी, पेट समाता होइ।
आगैं पाछैं हरि खड़ा, जो माँगै सो देइ॥181॥

संत में संचय की प्रवृत्ति नहीं होती। वह केवल आवश्यकता-भर पदार्थों को ग्रहण करता है अर्थात् उसमें अपरिग्रह की अपवृत्ति नहीं होती है। प्रभु सर्वव्यापी है। भक्त को जिस वस्तु की आवश्यकता होती है वह उसकी पूर्ति कर देता है।

राँम नाँम सौं दिल मिला, जम सों परा दुराइ।
मोहि भरोसा इष्ट का, बंदा नरक न जाइ॥182॥

मेरा हृदय रामनाम से युक्त है। अब यमराज मेरा कुछ नहीं कर सकता। उसके अधिकार से मैं अलग हो गया हूँ। मुझे अपने इष्टदेव का पूरा भरोसा है। उनका भक्त कभी नरक में नहीं जा सकता।

कबीर तूँ काहै डरै, सिर परि हरि का हाथ।
हस्ती चढ़ि नहिं डोलिए, कूकुर भुसैं जु लाख॥183॥

कबीर कहते हैं कि हे जीव! प्रभु का संरक्षण हाथ तेरे ऊपर है, फिर तू क्यों विचलित होता है? जब तू हाथी पर सवार हो गया, तब क्यों भयभीत होता है? अब तो तू सुरक्षित है। तेरे पीछे चाहे लाख कुत्ते भूँकें, तुझे उनका भय नहीं करना चाहिए।

मीठा खाँड़ मधूकरी, भाँति भाँति कौ नाज।
दावा किसही का नहीं, बिना बिलायत राज॥184॥

भिक्षा से प्राप्त भोजन में भाँति-भाँति का अन्न रहता है। वह खाँड़ के समान मीठा होता है। उसमें किसी एक व्यक्ति का अधिकार नहीं रहता। भिक्षान्न से सन्तुष्ट ऐसा साधु बिना राज्य के ही राजा है।

माँनि महातम प्रेम रस, गरवातन गुण नेह।
ए सबही अहला गया, जबहिं कहा कछु देह॥185॥

किसी व्यक्ति से किसी वस्तु की याचना करते ही सम्मान, महातम्य, प्रेमभाव, गौरव, गुण और स्नेह आदि सभी का नाश हो जाता हैं।

माँगन मरन समान है, बिरला बंचौ कोइ।
कहै कबीरा राम सौं, मति रे मँगावै मोहि॥186॥

माँगना मृत्यु के समान दु:खदायी है। ऐसी वृत्ति से शायद ही कोई बच पाता है। प्रत्येक को कुछ-न-कुछ आवश्यकता पड़ती रहती है और उसे माँगना पड़ता है तथापि कबीर राम से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु! मैं ऐसी स्थिति में कभी न आऊँ कि मुझे कभी किसी से कुछ माँगना पड़े।

पांडर पिंजर मन भँवर, अरथ अनूपम बास।
राम नाम सींचा अँमी, फल लागा विस्वास॥187॥

शरीर कुंद की झाड़ समान है, उसके पुष्प में मनोरथ की अनुपम सुंगध है। उस पर मनरूपी भ्रमर मँडराता रहता है। उस झाड़ को साधक रामनाम जपरूपी अमर प्राणदायिनी शक्ति से सींचता रहता है। तब उसमें विश्वास के फल प्रफुल्लित होते हैं। यही भक्ति की सार्थकता है।

मेरि मिटी मुकता भया, पाया ब्रह्म बिसास।
अब मेरे जूजा कोइ नहीं, एक तुम्हारी आस॥188॥

अहं और मेरापन का भाव समाप्त हो गया। अब मैं इस सीमा से विरत् हो गया और मेरी ब्रह्म में पूर्ण आस्था हो गयी। हे प्रभु अब मेरे लिए कोई दूसरा नहीं है, केवल तुम्हारा भरोसा है।

जाके हिरदै हरि बसै, सो नर कलपै काँइ।
एकै लहरि समुंद की, दुख दालिद सब जाइ॥189॥

जिसके हृदय में प्रभु का निवास है, वह और किसके लिए कल्पित है ? भगवान के अनुग्रहरूपी समुद्र की एक लहर मात्र से उसके सभी दु:ख और दारिद्र नष्ट हो जाते हैं।

पद गावै लौंलीन ह्वै, कटी न संसै पास।
सबै पछाड़े थोथरे, एक दिना बिस्वास॥190॥

यदि संशय का बंधन नहीं कटा तो सर्वथा प्रभु में लीन होकर पद गाने से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। विश्वास-रहित सारी साधना वैसे ही व्यर्थ है जैसे बिना अन्नकण के थोथे तुष (खाली सूप) को पछोरना।

गावन ही मैं रोवना, रोवन ही मैं राग।
इक बैरागी ग्रिह करै, एक ग्रिही बैराग॥191॥

एक दिखावे में गाता है, किन्तु भीतर से रोता है। दूसरा ऊपर से तो रोता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु भीतर से गाता है। ठीक इसी प्रकार एक वैरागी होते हुए भी भीतर से आसक्त रहने के कारण गृहस्थी से बँधा है और दूसरा ऊपर से घर-गृहस्थी तो बनाये हुए है, किन्तु भीतर से वह अनासक्त है अर्थात् उसमें सांसारिक विषयों के प्रति वास्तविक वैराग्य है।

गाया तिन पाया नहीं, अनगायाँ तै दूरि।
जिनि गाया विस्वास सौं, तिन राम रहा भरपूरि॥192॥

जिन्होंने बिना विश्वास के प्रभु का गुणगान किया, भक्ति का ढिंढोरा पीटा, वे प्रभु को प्राप्त करने में असमर्थ हैं, जो प्रभु का नाम लेते ही नहीं, उनसे तो वह दूर ही है। जो श्रद्धा और विश्वास के साथ राम-नाम का गुणगान करते हैं, उनके रोम-रोम में प्रभु व्याप्त रहते हैं।

सम्रथाई

ना कछु किया न करि सका, नाँ करने जोग सरीर।
जो कछु किया सो हरि किया (ताथै) भया कबीर कबीर॥193॥

मैंने स्वयं से कुछ भी नहीं किया और न कर सकने की सामर्थ्य है। यह स्थूल शरीर किसी कार्य के योग्य नहीं है। मेरे जीवन में जो कुछ भी संभव हुआ है, वह सब प्रभु ने किया है। उन्हीं के साधना से एक साधारण व्यक्ति श्रेष्ठ कबीर हो गया।

कबीर किया कछु होत नहिं, अनकीया सब होइ।
जौ कीएं ही होत है, तौ करता औरै कोइ॥194॥

कबीर कहते हैं कि मनुष्य ईश्वर के अनुग्रह के बिना कुछ नहीं प्राप्त कर सकता। यदि भगवदनुग्रह प्राप्त हो जाता है तो बिना साधना किये ही सब कुछ प्राप्त हो जाता है। यदि साधना, तपस्या आदि से कुछ होता भी है तो उसका वास्तविक कर्त्ता कोई और नहीं प्रभु ही है।

जिसहि न कोइ तिसहि तूँ तिस सब कोइ।
दरगह तेरी साँइयाँ, नाँमहरूँम न होइ॥195॥

जिसका कोई नहीं है, उसका भी आश्रय तू ही है। जिसे तेरा आश्रय प्राप्त है, उसको सभी के आश्रय स्वत: प्राप्त हो जाते हैं। हे प्रभु ! तेरे दरबार में कोई वंचित नहीं रहता अर्थात् तेरी कृपा सब को प्राप्त होती है।

एक खड़े ही ना लहैं, और खड़े बिललाइ।
साँई मेर, सुलषनां, सूतां देह जगाइ॥196॥

कुछ दरबार ऐसे होते हैं जहाँ कुछ लोग खड़े रहते हुए भी कुछ पाने से वंचित रहते हैं और वहीं खड़े-खड़े बिलखते रहते हैं। परन्तु मेरा प्रभु ऐसा कृपालु है कि वह सोये हुए को भी जगाकर देता है।

सात समुंद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ।
धरनी सब कागद करौं, (तऊ) हरि गुन लिखा न जाइ॥197॥

यदि सातों समुद्रों की स्याही बना डालूँ, सारे बनराजि की लेखनी और सारी पृथ्वी को कागज के रूप में ग्रहण करूँ तो भी प्रभु के गुणों का वर्णन सम्भव नहीं।

अबरन कौं क्या बरनिये, मोपै बरनि न जाइ।
अबरन बरने बाहिरा, करि करि थका उपाइ॥198॥

जो अवर्णनीय है उसका वर्णन कैसे हो सकता है? मेरे लिए उसका वर्णन सम्भव नहीं है। वह वर्णन से परे है। लोग अनेक कोशिश करके थक गए किन्तु उसका वर्णन करने में असफल ही रहे।

झल बाँवे झल दाँहिनैं, झलहि मांहि व्यौंहार।
आगै पीछै झलमई, राखै सिरजनहार॥199॥

संसार में जीव दाहिने-बाएँ, आगे-पीछे चारों ओर ज्वाला अर्थात त्रिताप (आधिभौतिक-आध्यात्मिक और आधिदैविक) से घिरा हुआ है और उसके सारे

व्यवहार इसी ज्वाला के भीतर ही सम्पन्न होते हैं। ऐसी परिस्थिति में प्रभु ही उसकी रक्षा कर सकते हैं। उसमें स्वयं बचने की सामर्थ्य नहीं है।

साँई मेरा बानियाँ, सहजि करै व्यौपार।
बिन डाँड़ी बिन पालरै, तौले सब संसार।।200।।

मेरा प्रभु अद्‌भुत व्यापारी है। वह सहज रूप में व्यापार करता है अर्थात् संसार के प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्म के अनुसार फल देता है। उसके न्याय का तराजू ऐसा है जिसमें डाँड़ी और पलड़े के बिना व्यक्ति के भाग का निर्धारण उसके कर्म के अनुसार करता है।

कबीर वार्या नाँव पर, कीया राई लौनं।
जिसहि चलावै पंथ तूँ, तिसहि भुलावै कौंन।।201।।

कबीर कहते हैं कि मैंने प्रभु के नाम पर अपने को पूर्णरूपेण समर्पित कर दिया है। जिसे भगवान सन्मार्ग पर लगा देता है, उसे भ्रमित कौन कर सकता है?

कबीर करनी क्या करै, जे राम न करै सहाइ।
जिहि जिहि डाली पग धरै, सोई नइ नइ जाइ।।202।।

कबीर कहते हैं कि यदि मनुष्य को भगवान की सहायता न मिले तो वह अपने उपाय से क्या कर सकता है? प्रभु की सहायता के बिना साधक जिस डाल का आश्रय लेकर ऊपर चढ़ना चाहता है अर्थात् साधना में जिस मार्ग का अवलम्ब लेकर आगे बढ़ना चाहता है, वही डाल नीचे झुक जाती है और साधक के नीचे गिर जाने की आशंका उत्पन्न हो जाती है।

जदि का माइ जनमियाँ, काहू न पाया सुख।
डाली डाली मैं फिरौ, पातौं पातौं दुःख।।203।।

मुझे जब से माता ने जन्म दिया, मैंने कहीं सुख नहीं पाया। यदि मैं डाल-डाल पर रहता हूँ तो दुःख आगे पात-पात पर रहता है अर्थात् मैं जितना ही दुःख से बचने का उपाय करता हूँ, उतना ही दुःख प्रत्यक्ष दिखायी देता है। केवल प्रभु की शरण में ही सुख है।

साँई सौं सब होत है, बंदे ते कछु नाँहि।
राई ते परबत करै, परबत राई माँहि।।204।।

जीवन में जो भी कार्य हैं वह प्रभु की कृपा से ही पूर्ण होता है, सेवक के प्रयत्न से नहीं हो सकता। प्रभु ऐसी शक्ति है कि वह राई को पर्वत और पर्वत को राई में बदल सकता है अर्थात् क्षुद्र को महान् और महान् को क्षुद्र बना सकता है।

कुसबद

अनी सुहेली सेल की, पड़तां लेइ उसास।
चोट सहारै सबद की, तास गुरू में दास।।205।।

भाले की नोंक की चोट तो सहा जा सकता है। भाला लगने पर मनुष्य एक बार व्यथा की श्वास तो निकाल भी सकता है, किन्तु दुर्वचन की चोट असह्य होती है। उसे सहन करने की क्षमता जिसमें होती है, कबीर उसे अपना गुरू मानने को तैयार हैं। अर्थात कटु वचन सहनेवाले व्यक्ति संसार में विरले ही मिलते हैं।

खोद खाद धरती सहै, काट कूट बनराइ।
कुटिल बचन साधू सहै, दूजै सहा न जाइ।।206।।

सहन करने की क्षमता केवल महान् लोगों में होती है। विशाल धरती में ही यह क्षमता होती है कि वह खोदाई के कष्ट को झेले, सुविस्तृत वनराजि में ही यह क्षमता है कि वह काट-कूट को सहन कर सके। इसी प्रकार विशाल हृदयमयी प्रभु-भक्त में ही यह क्षमता व्याप्त होती है कि वह लोगों के दुर्वचन वचन सहता है। अन्य लोगों में यह सहन शक्ति नहीं होती।

सीतलता तब जानिए, समता रहै समाइ।
पख छाड़ै निरपख रहै, सबद न दूखा जाइ।।207।।

मनुष्य में वास्तविक शीतलता का गुण तब समझना चाहिए, जब उसमें समत्व का भाव आ जाय, मान-अपमान की भावना से विवर्जित हो जाय और जब वह पक्ष छोड़कर सर्वथा निष्पक्ष हो जाय। तब दुर्वचन उसे दु:खित नहीं कर सकते।

कबीर सीतलता भई, पाया ब्रह्म गियान।
जिहि बैसंदर जग जलै, सो मेरे उदक समान।।208।।

जब मेरे भीतर ब्रह्म-ज्ञान जगा तो समत्वजनित शीतलता व्याप्त हो गयी। जिस दुर्वचनरूपी अग्नि से सारा संसार जल रहा है, वह मेरे लिए जल के समान शीतल हो गया।

सबद

कबीर सबद सरीर मैं, बिन गुन बाजै तांति।
बाहर भीतर रमि रहा, तातैं छूटि भरांति।।209।।

कबीर कहते हैं कि मेरे भीतर अनाहत नाद बिना तारों के वाद्ययन्त्र की ध्वनि के समान गूँजे रहा है। वह भीतर-बाहर चारों ओर रम रहा है। फलस्वरूप

मेरा चित्त शब्द–ब्रह्म में लीन हो गया है और इससे मेरी सारी भ्रान्तियाँ जाती रही हैं।

सती संतोषी सावधान, सबदभेद सुबिचार।
सतगुर के परसाद तैं, सहज शील मत सार।।210।।

जो साधक सत्यनिष्ठ है, सहनशील है और अवधानपूर्वक सभी ध्वनियों के रहस्य पर भली–भाँति विचार करता है, वह सत्गुरू की कृपा से उस सहज अवस्था को प्राप्त करता है, जो सब मतों का सार है।

सतगुर ऐसा चाहिए, जस सिकलीगर होइ।
सबद मसकला फेरि करि, देह दर्पन, करै सोइ।।211।।

सत्गुरू को सिकलीगर अर्थात् सान धरानेवाले के समान होना चाहिए, जो शब्द के मसकले द्वारा शिष्य को दर्पण के सदृश निर्मल कर देता है। अर्थात् गुरू ऐसा हो जो सुरति–शब्द–योग की साधना द्वारा शिष्य के सब दूषित संस्कारों को अपसारित कर उसका अन्त:करण बिल्कुल निर्मल कर दे।

हरि रस जे जन बेधिया, सर गुण सींगणि नाँहि।
लागी चोट सरीर मैं, करक कलेजे माँहि।।212।।

सत्गुरू अपने शब्द को बड़े ही आश्चर्य ढंग से संचालित करता है। वह न तो शर अर्थात् बाण का प्रयोग करता है और गुण अर्थात् प्रत्यंचा तथा सींगणि अर्थात् धनुष का। फिर भी उसके द्वारा प्रवाहित भक्ति–रस से जो बिद्ध होते हैं, उन पर अद्भुत प्रभाव पड़ता है। उस शब्द की चोट तो लगती है शरीर में, किन्तु वह उसकी टीस हृदय तक प्रवेश कर जाती है।

ज्यों ज्यों हरि गुन साँभलूँ, त्यों त्यों लागै तीर।
साँठी साँठी झड़ि पड़ी, भलका रहा सरीर।।213।।

मैं ज्यों–ज्यों प्रभु के गुणों का स्मरण करता हूँ, त्यों–त्यों वियोग का वाण मेरे अन्तस्तम में प्रविष्ट होता जाता है और वह बाण ऐसे भयंकर रूप में लगता है कि उसका सरकंडा तो टूटकर अलग हो जाता है, किन्तु उसका फलक भीतर ही बिंधा रह जाता है। इसलिए उसको निकालना असंभव हो जाता है।

ज्यौं ज्यौं हरि गुण साँभलौं, त्यौं त्यौं लागै तीर।
लागे ते भागै नहीं, साहनहार कबीर।।214।।

मैं जितना ही प्रभु के गुण का स्मरण करता हूँ, उतना ही मिलन की उत्कण्ठा तीव्र होती जाती है और विरह की वेदना तीर के समान चोट करती है। किन्तु कबीर उस वेदना से भागनेवाला नहीं है। वह धैर्य से उसको सहन करता है।

सारा बहुत पुकारिया, पीर पुकारै और।
लागी चोट जु सबद की, रहा कबीरा ठौर।।215।।

प्राय: सारे लोग जोर-जोर से पुकारते हैं, किन्तु उनकी पुकार बनावटी होती है। वास्तविक वेदना की पुकार कुछ और ही होती है। गुरू के शब्द की चोट लगने पर कबीर जहाँ-का-तहाँ रह गया। उसमें पुकारने की भी शक्ति शेष न रह गयी।

कबीर की साखी-1

गुरूदेव

सतगुरू सवाँ न को सगा, सोधी सईं न दाति।
हरिजी सवाँ न को हितू, हरिजन सईं न जाति।।1।।

सद्गुरू के समान कोई सगा नहीं है। शुद्धि के समान कोई दान नहीं है। इस शुद्धि के समान दूसरा कोई दान नहीं हो सकता। हरि के समान कोई हितकारी नहीं है, हरि सेवक के समान कोई जाति नहीं है।

बलिहारी गुरू आपकी, घरी घरी सौ बार।
मानुष तैं देवता किया, करत न लागी बार।।2।।

मैं अपने गुरू पर प्रत्येक क्षण सैकड़ों बार न्यौछावर जाता हूँ जिसने मुझको बिना विलम्ब के मनुष्य से देवता कर दिया।

सतगुरू की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार।
लोचन अनँत उघारिया, अनँत दिखावनहार।।3।।

सद्गुरू की महिमा अनन्त है। उसका उपकार भी अनन्त है। उसने मेरी अनन्त दृष्टि खोल दी जिससे मुझे उस अनन्त प्रभु का दर्शन प्राप्त हो गया।

राम नाम कै पटंतरे, देबे कौं कुछ नाहिं।
क्या लै गुरू संतोषिए, हौंस रही मन माँहि।।4।।

गुरू ने मुझे राम नाम का ऐसा दान दिया है कि मैं उसकी तुलना में कोई भी दक्षिणा देने में असमर्थ हूँ।

सतगुरू कै सदकै करूँ, दिल अपनीं का साँच।
कलिजुग हम सौं लड़ि पड़ा, मुहकम मेरा बाँच।।5।।

सद्गुरू के प्रति सच्चा समर्पण करने के बाद कलियुग के विकार मुझे विचलित न कर सके और मैंने कलियुग पर विजय प्राप्त कर ली।

सतगुरू शब्द कमान ले, बाहन लागे तीर।
एक जु बाहा प्रीति सों, भीतर बिंधा शरीर।।6।।

मेरे शरीर के अन्दर (अन्तरात्मा में) सद्गुरू के प्रेमपूर्ण वचन बाण की भाँति प्रवेश कर चुके हैं जिससे मुझे आत्म-ज्ञान प्राप्त हो गया है।

सतगुरू साँचा सूरिवाँ, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही भैं मिलि गया, पड्या कलेजै छेक॥7॥

सद्गुरू सच्चे वीर हैं। उन्होंने अपने शब्दबाण द्वारा मेरे हृदय पर गहरा प्रभाव डाला है।

पीछैं लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।
आगैं थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि॥8॥

मैं अज्ञान रूपी अन्धकार में भटकता हुआ लोक और वेदों में सत्य खोज रहा था। मुझे भटकते देखकर मेरे सद्गुरू ने मेरे हाथ में ज्ञानरूपी दीपक दे दिया जिससे मैं सहज ही सत्य को देखने में समर्थ हो गया।

दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहना, बहुरि न आँवौं हट्ट॥9॥

कबीर दास जी कहते हैं कि अब मुझे पुनः इस जन्म-मरणरूपी संसार के बाजार में आने की आवश्यक्ता नहीं है क्योंकि मुझे सद्गुरू से ज्ञान प्राप्त हो चुका है।

ग्यान प्रकासा गुरू मिला, सों जिनि बीसरिं जाइ।
जब गोविंद कृपा करी, तब गुर मिलिया आई॥10॥

गुरू द्वारा प्रदत्त सच्चे ज्ञान को मैं भूल न जाऊँ ऐसा प्रयास मुझे करना है क्योंकि ईश्वर की कृपा से ही सच्चे गुरू मिलते हैं।

कबीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया आटैं लौंन।
जाति पाँति कुल सब मिटे, नाँव धरौगे कौंन॥11॥

कबीर कहते हैं कि मैं और मेरे गुरू आटे और नमक की तरह मिलकर एक हो गये हैं। अब मेरे लिये जाति-पाति और नाम का कोई महत्त्व नहीं रह गया है।

जाका गुरू भी अँधला, चेला खरा निरंध।
अंधहि अंधा ठेलिया, दोनों कूप पडंत॥12॥

अज्ञानी गुरू का शिष्य भी अज्ञानी ही होगा। ऐसी स्थिति में दोनों ही नष्ट होंगे।

नाँ गुर मिल्या न सिष भया, लालच खेल्याडाव।
दोनौं बूड़े धार मैं, चढ़ि पाथर की नाव॥13॥

साधना की सफलता के लिए ज्ञानी गुरू तथा निष्ठावान साधक का संयोग आवश्यक है। ऐसा संयोग न होने पर दोनों की ही दुर्गति होती है। जैसे कोई पत्थर की नाव पर चढ़ कर नदी पार करना चाहे।

चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा माँहि।
तिहि घर किसकौ चाँन्दना, जिहि घर गोविंद नाँहि॥14॥

ईश्वर भक्ति के बिना केवल कलाओं और विद्याओं की निपुणता मात्र से मनुष्य का कल्याण सम्भव नहीं है।

भली भई जु गुर मिल्या, नातर होती हानि।
दीपक जोति पतंग ज्यूँ, पड़ता आप निदान॥15॥

कबीर दास जी कहते हैं कि सौभाग्यवश मुझे गुरू मिल गया अन्यथा मेरा जीवन व्यर्थ ही जाता तथा मैं सांसारिक आकर्षणों में पड़कर नष्ट हो जाता।

माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवैं पडंत।
कहै कबीर गुर ग्यान तैं, एक आध उबरंत॥16॥

माया का आकर्षण इतना प्रबल है कि कोई विरला ही गुरू कृपा से इससे बच पाता है।

संसै खाया सकल जग, संसा किनहुँ न खद्ध।
जे बेधे गुरू अष्षिरां, तिनि संसा चुनिचुनि खद्ध॥17॥

अधिकांश मनुष्य संशय से ग्रस्त रहते हैं। किन्तु गुरू उपदेश से संशय का नाश संभव है।

सतगुर मिल्या त का भया, जे मनि पाड़ी भोल।
पांसि विनंठा कप्पड़ा, क्या करै बिचारी चोल॥18॥

सद्गुरू मिलने पर भी यह आवश्यक है कि साधना द्वारा मन को निर्मल किया जाय अन्यथा गुरू मिलन का संयोग भी व्यर्थ चला जाता है।

बूड़ा था पै ऊबरा, गुरू की लहरि चमंकि।
भेरा देख्या जरजरा, (तब) ऊतरि पड़े फरंकि॥19॥

कबीर दास जी कहते हैं कि कर्मकाण्ड रूपी नाव से भवसागर पार करना कठिन था। अत: मैंने कर्मकाण्ड छोड़कर गुरू द्वारा बताये गये मार्ग से आसानी से सिद्धि प्राप्त कर ली।

गुरू गोविंद तौ एक है, दूजा यहु आकार।
आपा मेट जीवत मरै, तौ पावै करतार॥20॥

गुरू और ईश्वर में कोई भेद नहीं है। जो साधक अहंता का भाव त्याग देता है वह मोक्ष को प्राप्त करता है।

कबीर सतगुर ना मिल्या, रही अधूरी सीख।
स्वाँग जती का पहिरि करि, घरि घरि माँगे भीख।।21।।

सद्गुरू के मार्गदर्शन के अभाव में साधना अधूरी रह जाती है और ऐसे लोग संन्यासी का वेश बनाकर केवल भिक्षा मांगते रहते हैं।

सतगुर साँचा, सूरिवाँ, तातैं लोहि लुहार।
कसनी दे कंचन किया, ताई लिया ततसार।।22।।

इस साखी में कबीर दास जी ने सद्गुरू के लिए सोनार और लोहार का दृष्टान्त दिया है। सोनार की भाँति गुरू शिष्य को साधना की कसौटी पर परखता है फिर लोहार की भाँति तपाकर शिष्य के मन को सही आकार देता है।

निहचल निधि मिलाइ तत, सतगुर साहस धीर।
निपजी मैं साझी घना, बाँटे नहीं कबीर।।20।।

कबीर दास जी कहते हैं कि सद्गुरू की कृपा से आत्मज्ञान का आनन्द मुझे मिला है, किन्तु चाह कर भी मैं इस आनन्द को दूसरों के साथ बाँट नहीं सकता क्योंकि आत्मानुभूति के लिए व्यक्ति को स्वयं साधना करनी पड़ती है।

सतगुर हम सूँ रीझि करि, कहा एक परसंग।
बरसा बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग।।24।।

सद्गुरू ने प्रसन्न होकर हमसे एक रहस्य की बात बतलायी, जिससे प्रेम का बादल इस प्रकार बरसा कि हम उसमें भींग गये।

कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरस्या आइ।
अंतरि भीगी आतमाँ, हरी भई बनराई।।25।।

कबीर कहते हैं कि सद्गुरू के बताये हुए मार्ग से प्रेम का बादल उमड़कर हमारे ऊपर बरसने लगा। हमारी अन्तरात्मा भींग गयी और जीवनरूपी वनराशि हरी हो गयी।

सुमिरन

कबीर कहता जात है, सुनता है सब कोइ।
राम कहें भल होइगा, नहिं तर भला न होइ।।26।।

कबीरदास कहते हैं कि मैं कहता जाता हूँ अर्थात् बराबर कहता रहा हूँ और सभी मेरी बात सुनते भी हैं, किन्तु मेरे उपदेश के अनुरूप कोई आचरण नहीं

करता। मेरा कहना यही है कि प्रभु के स्मरण से ही कल्याण होगा और किसी प्रकार से कल्याण नहीं हो सकता।

कबीर कहै मैं कथि गया, कथि गये ब्रह्म महेस।
राम नाम ततसार है, सब काहू उपदेस॥27॥

कबीर कहते हैं कि ब्रह्मा और शिव ने सारे संसार को एक मुख्य उपदेश दिया है और मैं भी वही कहता हूँ कि राम-नाम ही वास्तव में सार वस्तु है।

तत्त तिलक तिहुँ लोक मैं, रामनाम निज सार।
जन कबीर मस्तक दिया, सोभा अधिक अपार॥28॥

तीनों लोकों में श्रेष्ठ तत्त्व रामनाम है और वही अपना भी सार है। भक्त कबीर ने अपने मस्तक पर उसको धारण कर लिया और इससे उनके जीवन में अपार शोभा आ गयी।

भगति भजन हरि नाँव है, दूजा दुक्ख अपार।
मनसा वाचा कर्मना, कबीर सुमिरन सार॥29॥

प्रभु की भक्ति और उनके नाम का भजन (जप) यही वस्तुतः सार है और सब बातें अपार दुःख हैं। कबीर का यह कहना है कि मन, वचन और कर्म से प्रभु का स्मरण ही जीवन का सार है।

चिंता तौ हरि नाँव की, और न चितवै दास।
जे कछु चितवैं राम बिन, सोइ काल की पास॥30॥

दास कबीर कहते हैं कि मैं तो केवल हरि नाम का चिन्तन करता हूँ और किसी वस्तु का चिन्तन नहीं करता। जो लोग राम को छोड़कर और कुछ चिन्तन करते हैं, वे बन्धन और मृत्यु में फँसते हैं।

मेरा मन सुमिरै राम को, मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहिं ह्वै रहा, सीस नवावौं काहि॥31॥

मेरा मन राम का स्मरण करते-करते राममय हो गया। ऐसी स्थिति में अब मैं किसको नमस्कार करूँ?

तूँ तूँ करता तू भया, मुझ मैं रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूँ॥32॥

मुझमें अहंभाव समाप्त हो गया। मैं पूर्ण रूप से तेरे ऊपर न्यौछावर हो गया हूँ और अब जिधर देखता हूँ, उधर तू ही तू दिखलाई देता है अर्थात् सारा जगत् ब्रह्ममय हो गया है।

कबीर निरभै राम जपु, जब लगि दीवै बाति।
तेल घटै बाती बुझै, (तब) सोवैगा दिन राति।।33।।

कबीर कहते हैं कि जब एक शरीर रूपी दीपक में प्राण रूपी वर्तिका विद्यमान है अर्थात् जब तक जीवन है, तब तक निर्भय होकर राम नाम का स्मरण करो। जब तेल घटने पर बत्ती बुझ जायेगी अर्थात शक्ति क्षीण होने पर जब जीवन समाप्त हो जायेगा तब तो तू दिन-रात सोयेगा ही अर्थात मृत हो जाने पर जब तेरा शरीर निश्चेतन हो जायेगा, तब तू क्या स्मरण करेगा ?

कबीर सूता क्या करै, जागि न जपै मुरारि।
इक दिन सोवन होइगा, लम्बे पाँव पसारि।।34।।

कबीर जीव को चेतावनी देते हैं कि हे जीव ! तू अज्ञान-निद्रा में सोते हुए क्या कर रहा है? जग कर अर्थात् इस निद्रा को त्याग कर भगवान का स्मरण कर। एक दिन तो तुझे पैर फैलाकर चिर निन्द्रा में मग्न होना ही है।

कबीर सूता क्या करै, गुन गोविंद के गाई।
तेरे सिर पर जम खड़ा, खरच कदे का खाई।।35।।

कबीर कहते हैं कि हे जीव ! तू अज्ञान-निद्रा में सोया हुआ क्या कर रहा है? तू प्रभु का गुणगान क्यों नहीं करता है? तेरे सिर पर यमराज खड़ा है। तू भी काल-ग्रस्त हो जाएगा, बचेगा नहीं। इसलिए जीवन रहते हुए सचेत होकर भगवान का स्मरण कर।

केसौ कहि कहि कूकिए, नाँ सोइय असरार।
राति दिवस कै कूकनै, कबहुँक लगे पुकार।।36।।

प्रभु को निरन्तर आर्त्त स्वर से पुकारते रहो। घोर निद्रा में न पड़े रहो। दिन-रात की पुकार से, सम्भव है, कभी सुनवाई हो जाय और तुम्हारी पुकार लग जाये।

जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहिं राम।
ते नर इस संसार में, उपजि शये बेकाम।।37।।

जिनके हृदय में न प्रेम है, न प्रेम का आस्वाद और जिनकी जिह्वा पर राम नाम भी नहीं है, वे मनुष्य इस संसार में व्यर्थ पैदा होकर नष्ट होते हैं।

कबीर प्रेम न चाषिया, चषि न लीया साव।
सूने घर का पाहुनाँ ज्यूँ आया त्यूँ जाव।।38।।

कबीर कहते है कि जिसने प्रभु के प्रेम का अनुभव नहीं किया उसका इस संसार में जन्म लेना और मर जाना सूने घर में अतिथि के आने-जाने के समान है।

पहिलै बुरा कमाई करि, बाँधी विष की पोट।
कोटि करम फिल पलक मैं, (जब) आया हरि की ओट।।39।।

पहले अर्थात् पूर्व जन्म में अनेक पाप-कर्म करके जीव ने जो विष की गठरी बाँध रखी है, प्रभु की शरण में जाने पर वह उसको क्षण भर में फेंक कर शुद्ध हो जाता है।

कोटि क्रम पेलै पलक मैं, जे रंचक आवै नाउँ।
अनेक जुग जो पुन्नि करै, नहीं राम बिन ठाउँ।।40।।

यदि प्रभु का तनिक भी नाम-स्मरण किया जाये तो वह पूर्व जन्म के करोड़ों दुष्कर्मों को क्षण भर में ढकेल कर नष्ट कर सकता है। किन्तु-भक्ति के बिना मनुष्य चाहे अनेक युगों तक पुण्य करे, उसको कोई ठौर-ठिकाना नहीं मिल सकता है।

जिहि हरि जैसा जानियां, तिनकौ तैसा लाभ।
ओसों प्यास न भाजई, जब लगि धसै न आभ।।41।।

प्रभु को जिसने जिस प्रकार पहचाना है, उसी प्रकार उसको लाभ प्राप्त होता है। जब तक प्यासा पानी में डुबकी नहीं लगाता, तब तक केवल ओस चाटने से प्यास नहीं जाती।

राम पियारा छांडि करि, करै आन का जाप।
वेस्या केरा पूत ज्यौं, कहै कौन सौं बाप।।42।।

जो परम मित्र परमात्मा राम को छोड़कर अन्य देव-देवी का जप करता है, वह वेश्या के पुत्र के समान है, जो अपने वास्तविक पिता को नहीं जानता। वस्तुतः परमात्मा ही सबका पिता है, अन्य कोई नहीं।

कबीर आपन राम कहि, औरन राम कहाइ।
जिहि मुखि राम न ऊचरै, तिहि मुख फेरि कहाइ।।43।।

कबीर कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं राम का जप करना ही चाहिए, उसे औरों से भी 'राम' कहलवाना चाहिए। जो व्यक्ति राम नाम का उच्चारण नहीं करता है, उससे बार-बार कहलाना चाहिये।

जैसे माया मन रमैं, यौं जे राम रमाइ।
(तौ) तारा मंडल बेधि कै, जहाँ के सो तहँ जाइ।।44।।

जिस प्रकार जीव का मन माया में रमण करता है, उसी प्रकार यदि उसका मन राम में रमण करे तो वह ब्रह्म में लीन हो सकता है।

लूटि सकै तौ लूटि लै, राम नाम की लूटि।
फिर पाछे पछिताहुगे, यहु तन जैहै छूटि।।45।।

मानव शरीर ही एक ऐसी योनि है जिसमें साधना सम्भव है। जब यह शरीर छूट जाएगा तो यह आध्यात्मिक साधना संभव न हो सकेगी और तब पछताओगे कि एक ईश्वर प्रदत्त अवसर को गँवा दिया।

लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम भंडार।
काल कंठ तैं गहेगा, रूँधै दसों दुवार।।46।।

राम नाम का अक्षय भण्डार यथाशक्ति लूट लो। जब काल तुम्हारे कंठ को दबोचेगा, तब शरीर के दसों द्वार अवरुद्ध हो जायेंगे। उस समय तुम चेतना-शून्य को जाओगे और राम नाम का स्मरण कैसे कर सकोगे ?

लंबा मारग दूरि घर, विकट पंथ बहु मार।
कहौ संतौ क्यों पाइए, दुर्लभ हरि दीदार।।47।।

पथिक का घर बहुत दूर है और मार्ग कवेल लम्बा ही नहीं, दुस्तर भी है। मार्ग में बहुत से बटमार भी मिलते हैं। ऐसी स्थिति में अपने निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचना अत्यन्त दुर्लभ है। इसी प्रकार प्रभु की प्राप्ति अपना लक्ष्य है। इसलिए चेत जाओ और गुरू की सहायता से मार्ग से विघ्नों से बचते हुए अपने लक्ष्य को प्राप्त करो।

गुन गाए, गुन ना कटै, रटै न, राम बियोग।
अह निसि हरि ध्यावै नहीं, क्यों पावै दुर्लभ जोग।।48।।

प्रभु का केवल गुणगान करने से कि वह सर्वव्यापी हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं और कीर्तन-भजन करने से प्रकृति का त्रिगुणात्मक बन्धन नहीं कट सकता। यदि भक्त हृदय से उसका स्मरण न करता रहे तो प्रभु से वियोग बना रहता है।

कबीर कठिनाई खरी, सुमिरताँ हरि नाम।
सूली ऊपरि नट विद्या, गिरै त नाहीं ठाम।।49।।

कबीर कहते हैं कि प्रभु के भक्ति-मार्ग में बड़ी कठिनाई है। यह कठिनाई उसी प्रकार की है जेसै सूली के ऊपर नट द्वारा दिखलायी जाने वाली कला, जिसमें हमेशा यह भयावह स्थिति बनी रहती है कि यदि वह गिरा तो उसके बचने का कोई सहारा नहीं है।

कबीर राम ध्याइ लै, जिभ्या सौं करि मंत।
हरि सागर जिनि बीसरै, छीलर देखि अनंत।।50।।

कबीर कहते हैं कि जिह्वा से तो राम का मन्त्र जपते रहो और मन से उनका ध्यान करते रहो। मन्त्र जपना प्राण की क्रिया है, ध्यान मन की क्रिया। अत: प्रभु तो सागर के समान हैं इसलिये छिछले तालाब रूपी देव-देवियों के चक्कर में न पड़कर महासागर के समान प्रभु को मत भुला दो।

कबीर राम रिझाइ लै, मुखि अमृत गुण गाइ।
फूटा नग ज्यों जोड़ि मन, संधिहि संधि मिलाइ॥51॥

कबीर कहते हैं कि हे जीव ! तू उस अमर तत्त्व का गुणगान कर, जो अमृत के समान औरों को भी अमर कर देता है। अपने चित्त को प्रभु में उसी प्रकार मिला दे, जैसे जौहरी फूटे हुए नग को संधि से संधि कर अर्थात् आपस में मिलाकर जोड़ देता है।

कबीर चित्त चमंकिया, चहुँ दिस लागी लाइ।
हरि सुमिरन हाथौं घड़ा बेगे लेहु बुझाइ॥52॥

कबीर कहते हैं कि इस संसार में सर्वत्र विषय वासना रूपी आग लगी हुई है। उसके ताप से तेरा चित्त तप्त हो उठा है। परन्तु हे भक्त! तू घबड़ा मत। प्रभु के स्मरण-रूपी पावन जल से भरा हुआ घट तेरे हाथ में है अर्थात् तू प्रभु का स्मरण करने की स्थिति में है। उस घड़े से तू विषय-वासना रूपी आग को शीघ्र ही अधीन कर ले अर्थात् बुझा ले।

ग्यान बिरह

दीपक पावक आँनिया,तेल भि आना संग।
तीन्यँ मिलि करि जोइया, (तब) उड़ि उड़ि पड़ैं पतंग॥50॥

ज्योंति के लिए तीन तत्त्वों की आवश्यकता होती है-दीपक, आग और तेल। इसी प्रकार जीव में ज्ञान रूपी ज्योंति तभी आ सकती हैं, जब गुरू जीव रूपी दीपक में ज्ञान रूपी अग्नि और प्रेम अथवा भक्ति रूपी तेल एकत्र कर तीनों को योजित कर दे। ऐसा होने पर फिर तो विषय-वासना रूपी पतिंगे स्वत: आ-आकर जल मरते हैं।

मारा है जे मरैगा, बिन सर थोथी भालि।
पड़ा पुकारै ब्रिछ तरि, आजि मरै कै काल्हि॥54॥

यदि गुरू ने केवल ज्ञान-विहीन बिरह का बाण मारा है, तब भी शिष्य मरेगा अर्थात् अपना या अहंभाव खोयेगा अवश्य। ठीक इसी प्रकार जिसमें केवल रागात्मक बिरह है, वह भी अहंभाव खोएगा, किन्तु बहुत समय के बाद। जिसको ज्ञान संयुक्त बिरह का बाण लगा है, वह शीघ्र ही अहंभाव खो देगा।

झल ऊठी झोली जली, खपरा फूटिम फूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसनि रही विभूति।।55।।

ज्ञान रूपी अग्नि प्रज्ज्वलित हुई, उसमें योगी के सारे संचित कर्मों की झोली जल गयी और क्रियमाण कर्म रूपी भिक्षापात्र भी टूट-फूट गया अर्थात् अब उसका भी योगी पर कोई प्रभाव न रहा। उसके भीतर जो तत्त्व साधना कर रहा था, वह ब्रह्म में विलुप्त हो गया। अब आसन पर केवल भस्म रह गया अर्थात् साधक अपने पूर्व रूप में न रह कन अवशेष मात्र प्रतीक रूप में कहने-सुनने को रह गया।

आगि जु लागी नीर महिं, कांदौ जरिया झारि।
उतर दखिन के पंडिता, मुए बिचारि बिचारि।।56।।

पानी में आग लग गयी और उसका कीचड़ सम्पूर्णतया जल गया अर्थात अवचेतन में जो दूषित संस्कार और वासनाएँ हैं वे भस्म हो गईं। उत्तर-दक्षिण के पंडित (पोथी तक सीमित ज्ञान वाले पंडित) अर्थात् चारों ओर के शास्त्री विचार कर हार गये पर इसका मर्म किसी की समझ में न आया।

दौं लागी सायर जला पंखी बैठे आई।
दाधी देह न पालवै, सद्गुरू गया लगाइ।।57।।

ज्ञान-विरह की अग्नि से मानस-सरोवर जल गया। अब हंस रूपी शुद्ध जीव ऊपर स्थित हो गया अर्थात् वासनाओं और पृथक् वैयक्तिक सत्ता से विमुक्त हो गया। पृथक् वैयक्तिक सत्ता रूपी देह भस्म हो गयी। अब वह पुनः नहीं पनप सकती अर्थात् स्वयं का अहंभाव सदा के लिए जाता रहा। अब वह पुनः पल्लवित न हो सकेगा।

गुरू दाधा चेला जला, बिहरा लागी आगि।
तिनका बपुरा ऊबरा, गलि पूरे के लागि।।58।।

गुरू ने बिरह की आग लगायी। उस आग में चेला जल गया अर्थात् उसके भीतर पूर्ण रूप से विरह की आग व्याप्त हो गई। सामान्यतया आग लगने से तिनका जलकर राख हो जाता है। परन्तु विरह की आग ऐसी होती है जिससे बेचारे क्षुद्र चेले रूपी तिनके का उद्धार ही हो जाता है, क्योंकि उस बिरह से तृण का भस्म से और चेले का पूर्ण से आलिंगन हो जाता है।

अहेड़ी दौ लाइया मिरग पुकारे रोइ।
जा बन में क्रीला करी, दाझत है बन सोइ।।59।।

गुरू रूपी शिकारी शिष्य के मनरूपी देहात्मक वन में ज्ञान-विरह की आग लगता है और वह वासनासक्त जीव रूपी मृग चिल्ला-चिल्लाकर रोता है कि जिस विषय-वासना रूपी वन में भोग कर रहे थे, वह अब जल रहा है,नष्ट हुआ जा रहा है। अर्थात् मृग और आसक्ति-मुक्त जीवन में केवल भेद यह है कि मृग को वन का मोह बना रहता है, परन्तु आसक्ति-मुक्त जीव को क्षण भर के लिए धक्का-सा तो लगता है, परन्तु बाद में उसे मधुर शांति का अनुभव होता है।

पांनीं मांहीं परजली, भई अपरबल आगि।
बहती सरिता रहि गई, मच्छ रहे जल त्यागि॥60॥

जब गुरू ने ज्ञान-विरह की अग्नि प्रज्ज्वलित की तो प्रबल ज्वाला उठी और विषयासक्त जीव प्रज्ज्वलित हो गया। इन्द्रियों का कार्य समाप्त हो गया और जीवात्मा रूपी मत्स्य ने विषय-वासनामयी जल को त्याग दिया।

परचा (परिचय)

कबीर तेज अनंत का, मानो सूरज सेनि।
पति संगि जागी सुन्दरी, कौतुक वीठा तेनि॥61॥

कबीर कहते हैं कि परमात्मा की ज्योति इतनी शक्तिशाली है मानों सूर्य की श्रेणी उदय हुई हो। परन्तु इस ज्योति रूपी ज्ञान का अनुभव सबको नहीं होता। जो व्यक्ति मोह-निद्रा में सोता नहीं रहता, परमात्मा के साथ जागता रहता है, उन्हीं के द्वारा यह रहस्य देखा जाता है।

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कौ सोभा नहीं, देखे ही परमान॥62॥

परब्रह्म के प्रकाश का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अनुमान, प्रत्यक्ष, उपमान आदि साधन तो मायिक जगत् के हैं। उसका साक्षात्कार इन किसी भी साधनों के क्षेत्र में नहीं है। उसका सौन्दर्य व्याख्यान से परे है। उसका प्रमाण केवल अपरोक्षानुभूति ही है।

हदे छाँड़ि बेहदि गया, हुआ निरन्तर वास।
कँवल जु फूला फूल बिना, को निरखै निज दास॥63॥

कबीर कहते हैं कि मैं ससीम से परे अर्थात् पारकर असीम में पहुँच गया और वहाँ मेरी शाश्वत स्थिति हो गई। वहाँ मैंने अनुभव किया कि बिना किसी फूल के एक कमल खिला हुआ जिसे प्रभु-भक्त के सिवाय भला और कौन देख सकता है ?

अन्तरि कँवल प्रकासिका, ब्रह्म वास तहँ होइ।
मन भँवरा तहँ लुबधिया, जानैगा जन कोइ॥64॥

हृदय के अन्तर्मन में कमल अर्थात् ज्योति प्रकाशित हो रहा है। वहाँ ब्रह्म का निवास है। मन रूपी भौंरा उस कमल रूपी ज्योति पर लुब्ध होकर उसमें विचरण करता रहता है। इस रहस्य को केवल प्रभु का भक्त ही जान सकता है।

सायर नाहीं सीप नहिं, स्वाति बूँद भी नाँहि।
कबीर मोती नीपजै, सुन्नि सिखर गढ़ माँहि॥65॥

कबीर कहते हैं कि वहाँ न तो सागर है न सीप है और न ही स्वाति-बूँद अर्थात् मोती में उत्पन्न होने के जितने संभावित कारण हैं, उनमें से एक भी विद्यमान नहीं है, फिर भी इस शरीर के भीतर सहस्रार में मोती उत्पन्न हो रहा है अर्थात् एक अद्‌भुत ज्योति का साक्षात्कार हो रहा है।

घट माँहैं औघट लह्या, औघट माँहैं घाट।
कहि कबीर परचा भया, गुरू दिखाई बाट॥66॥

कबीर कहते हैं कि गुरू ने मार्ग दर्शन किया। परिणामस्वरूप इस शरीर में ही मैंने एक विकट मार्ग का अनुभव किया और उस विकट मार्ग से ही अपने लक्ष्य को प्राप्त किया। वहाँ मुझे सत्य का दर्शन अर्थात् साक्षात्कार हुआ।

सूर समाना चाँद मैं, दुहूँ किया घर एक।
मन का चेता तब भया, कछू पूरबला लेख॥67॥

जब सूर्य नाड़ी चन्द्र नाड़ी में समाहित हो जाती है अर्थात् सुषुम्ना में चलने लगती है, तब मन का स्वेच्छित फल मिल जाता है। यह पूर्व जन्म के अच्छे कर्मों का ही परिणाम है।

हद्द छाड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनि जन महल न पावहीं, तहाँ किया बिसराम॥68॥

कबीर ने सीमित से आगे बढ़कर असीम को प्राप्त कर लिया है। अब वह शून्य के आनन्द-सागर में अवगाहन कर रहे हैं। जो स्थान बड़े-बड़े मुनियों के लिए भी दुर्लभ है, वहाँ पहुँचकर कबीर पूर्ण विश्राम कर रहे हैं।

देखौ करम कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख।
जाका महल न मुनि लहैं सो दोसत किया अलेख॥69॥

कबीर कहते हैं कि यह मेरे किसी पूर्व जन्म के पुण्य का फल है कि जिस स्थान को बड़े-बड़े मुनि नहीं प्राप्त कर सकते हैं, वह मुश्किल लक्ष्य, निराकार सत्ता कबीर के लिए प्रिय के समान प्राप्त है।

मन लागा उनमन्न सौ, गगन पहूँचा जाइ।
चाँद बिहूँना चांदिना, अलख निरंजन राइ॥70॥

मेरा मन एक संकल्प-विकल्पात्मक अवस्था के ऊपर राम के मन में मिल गया। वहाँ मैंने एक विचित्र प्रकाश का अनुभव किया, जो कि बिना चन्द्रमा के ही चाँदनी जैसा शीतल और स्निग्ध था। मैंने वहीं उस त्रिगुणातीत, निर्गुण, निराकार सत्ता का दर्शन किया है, जो कि स्थूल इन्द्रियों की पहुँच से परे है।

मन लागा उनमन्न सो, उनमन मनहि विलग।
लौंन विलंगा पानियाँ, पानीं लौंन विलग॥71॥

कबीर कहते हैं कि मेरे संकल्प-विकल्पात्मक मन ने अपना स्वभाव छोड़ दिया और राम के मन में उसी प्रकार से सानिध्य हो गया जैसे नमक और जल मिलकर एक हो जाते हैं।

पानी ही तै हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछु कहा न जाइ॥72॥

मानव के भीतर जो साक्षि-चैतन्य है, जो चिन्मात्र है, वह पानी के समान है। वही चिन्मात्र अन्त:करण से परिसीमित होकर चिदाभास का रूप ग्रहण करता है। यह चिदाभास हिम अर्थात् बर्फ के समान है, क्योंकि जल की अपेक्षा में यह स्थूल है। जैसे बर्फ गलकर फिर पानी की अवस्था में आ जाती है, वैसे ही अन्त:करण में जो चिदाभास है, वह फिर लीन होने पर चिन्मात्र हो जाता है अर्थात् जीव ब्रह्म के रूप में आ जाता है।

भली भई जु भै पड्या, गई दसा सब भूलि।
पाला गलि पानी भया, ढुलि मिलिया उस कूलि॥72॥

यह बहुत अच्छा हुआ कि मैं अपनी सांसारिक दशा को भूल गया और वास्तविक स्वरूप में परिणत हो गया। यह वैसे ही है जैसे हिम परिणत होकर जल हो जाता है और लुढ़क कर किनारे के जल से विलीन हो जाता है।

चौहटै चिंतामणि चढ़ी, हाड़ी मारत हाथि।
मीराँ मुझसू मिहर करि, इब मिलौं न काहू साथि॥73॥

जीवन-यात्रा में मैं उस चौराहे पर पहुँच गया हूँ जहाँ प्रभु से साक्षात्कार हो गया है। परन्तु अन्तर्मन में स्थित काम, क्रोध, मोह रूपी डाकू मेरी उस अमूल्य निधि को छीन लेना चाहते हैं। हे दया के सागर मेरे ऊपर दया करो जिससे अब मैं इन सबों के चक्कर में न पड़ूँ।

पंखि उड़ानी गगन कौं, पिण्ड रहा परदेस।
पानी पीया चंचु बिनु, भूलि या यहु देस॥74॥

जीव रूपी पक्षी (हंस) कुण्डलिनी के सहारे सहस्रार तक उड़ गया अर्थात् परमतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया और यह भौतिक शरीर अपने स्थान पर यों ही पड़ा रहा, जो कि अब उस जीव के लिए परदेश-सा हो गया है। जब जीव को परमतत्त्व का अनुभव नहीं था, तब उसके लिए शरीर स्वदेश और परमतत्त्व परदेश था। अब परमतत्त्व स्वदेश हो गया और शरीर परदेश हो गया। उसने इन्द्रियों के बिना ही आनन्द रस का पान किया और सांसारिक दशा को भूल गया अर्थात् इससे अब उसकी आसक्ति जाती रही।

सुरति समानी निरति मैं, अजपा माँहै जाप।
लेख समानां अलेख मैं, यौं आपा माँहै आप॥75॥

साधना की प्रगति में साधक स्थूल से सूक्ष्म, शब्द से अशब्द, प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष, साकार से निराकार, ससीम से असीम, अहंकार से निरहंकार की ओर बढ़ता चला जाता है और जब वह अशब्द, निराकार, अप्रत्यक्ष और निरहंकार अवस्था पर पहुँचता है, तब उसे ब्रह्म-तत्त्व का वास्तविक दर्शन होता है।

आया था संसार में, देखन कौ बहुत रूप।
कहै कबीरा संत हो, परि गया नजरि अनूप॥76॥

कबीर कहते हैं कि हे संतो ! मैंने संसार में अनेक रूप देखने के लिए जन्म लिया था, परन्तु इन्हीं रूपों के भीतर अनुपम तत्त्व, जो अरूप है, मेरी दृष्टि में पड़ गया अर्थात् मुझे अनुपम तत्त्व का दर्शन हो गया।

धरती गगन पवन नहिं होता, नहिं तोया नहिं तारा।
तब हरि हरि के जन हते, कहै कबीर विचारा॥77॥

कबीर कहते हैं कि सृष्टि के पूर्व पृथ्वी, आकाश, पवन, जल, अग्नि ये पाँचों तत्त्व नहीं थे। उस समय केवल हरि और उनके भक्त (जीव), अंशी और अंश ही थे।

जा दिन किरतम नां हता, नहीं हाट नहिं बाट।
हुता कबीरा राम जन, जिन देखा औघट घाट॥78॥

जिस समय यह सृष्टि नहीं थी, संसार रूपी बाजार नहीं था, उस समय केवल रामभक्त आदि गुरू कबीर था, जिसको लक्ष्य तक पहुँचने के कठिन और दुर्गम मार्ग का ज्ञान था।

थिति पाई मन थिर भया, सतगुरू करी सहाइ।
अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ॥79॥

सद्गुरू की कृपा से मैं तत्त्व में प्रतिष्ठित हो गया और मेरा मन अब स्थिर हो गया है, उसकी चंचलता जाती रही। मेरे भीतर अनन्य चरितार्थ हो गया और हृदय में भगवान त्रिभुवनपति विराजमान हो गए।

हरि संगति सीतल भया मिटी मोह की ताप।
निस बासुरि सुखनिधि लहा, (जब) अंतरिप्रगटा आप॥80॥

अनन्तर में आत्म-दर्शन होने पर प्रभु से तादात्म्य हो गया, मोह की ज्वाला मिट गई और मैं निरन्तर आनन्द-निधि का अनुभव कर रहा हूँ।

तन भीतरि मन मानियाँ, बाहरि कहा न जाइ।
ज्वाला तै फिरि जल भया, बुझी बलंती लाइ॥81॥

दर्शन मात्र होने से मन में पूर्ण निश्चय हो गया, संशय हमेशा के लिए समाप्त हो गया। उस स्थिति का मैं शब्द-व्याखन नहीं कर सकता। मोह की ज्वाला जल में परिणत हो गयी। जलती हुई मोह की आग पूर्ण रूप से बुझ गयी अर्थात् परिचय द्वारा पूर्ण शान्ति आ गयी।

जिनि पाया तिनि सुगहगह्या, रसनाँ लागी स्वादि।
रतन निराला पाइया, जगत ढंढोल्या बादि॥82॥

जिन्होंने परम तत्त्व को प्राप्त किया, उन्होंने पूर्ण रूप से हृदय में प्रतिष्ठित कर लिया है, उसके माधुर्य का उन्होंने पूर्ण रूप से आस्वादन किया। उनको एक अनुपम रत्न मिल गया है। वह अब जगत् में और कुछ ढूँढना व्यर्थ समझते हैं अर्थात् परमार्थ के प्राप्त होने पर अन्य अर्थ की क्या आवश्यकता है ?

कबीर दिल साबित भया, पापा फल समरत्थ।
सायत माँहि ढँढोलता, हीरै पड़ि गया हत्थ॥83॥

कबीर कहते हैं कि मैं भव-सागर में अपने इष्ट को टटोल रहा था। गुरू कृपा से मेरे हाथ हीरा ही आ गया अर्थात् सर्वोत्कृष्ट इष्ट मुझे प्राप्त हो गया। फिर तो मेरा हृदय परिपूर्ण हो गया और मैंने जीवन का सर्व-अर्थकारी परमोत्कृष्ट सम्यक्-लक्ष्य प्राप्त कर लिया।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाँहि।
प्रेम गली अति साँकरी, या में दो न समाँहि॥84॥

मनुष्य में जब तक अहम विद्यमान रहता है तब तक प्रभु दर्शन दुर्लभ होता है। अहम मिटते ही प्रभु से मिलन हो जाता है। प्रेम की यह विशेषता है कि यद्यपि

यह प्रारम्भ दो में होता है, तथापि जब तक द्वैत बना रहता है, तब तक उसमें परिपूर्णता नहीं आती।

जा कारणि मैं ढूँढ़ता, सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव ऊजला, लागि न सक्कौं पाई॥85॥

जिसके दर्शन के लिए मैं परेशान था वह आज मेरे सम्मुख है। परन्तु मैं इस संकोच में पड़ा हूँ कि कितना पाप-पंकिल, क्षुद्र-जीव हूँ और मेरा प्रिय कितना शुभ्र और महान् कि मैं पैर पकड़ने का भी साहस न कर सका।

जा कारणि मैं जाइ था, सोई पाया ठौर।
सोई फिरि आपन भया, जाको कहता और॥86॥

जिसके लिए मैं इधर-उधर भटक रहा था, उसको अपने भीतर ही पा लिया। जिसको मैं अन्य कहता था, अब देखता हूँ कि वही वास्तविक अपना है।

कबीर देखा इक अगम, महिमा कही न जाय।
तेज पुंज पारस धनी, नैननि रहा समाय॥87॥

भाग्योदय हुआ उसका साक्षात्कार हुआ, जो अगम था, जिस तक किसी की पहुँच न थी। उसके गौरव और महात्मय का वर्णन असम्भव है। वह ज्योति-पुंज है और अपने स्पर्श से पापी को भी पुण्यात्मा बनाने वाला पारस जैसा सौभाग्य-दायक है। अब वह मेरे नेत्रों में समा गया है अर्थात् मेरी दृष्टि से विलुप्त नहीं होता।

मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहिं।
मुकताहल मुकता चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहिं॥88॥

जीव सुषुम्नामार्ग से पहुँचकर शून्य शिखर पर स्थित अमृत कुंड में केलि कर रहा है और आनन्द रूपी मोती स्वच्छन्द रूप से जी भर कर चुग रहा है। इस आनन्द को छोड़कर वह अन्यत्र सांसारिक विषयों की ओर नहीं जा सकता।

गगन गरजि अमृत चुवै, कदली कँवल प्रकास।
तहाँ कबीरा बंदगी, कै कोई निज दास॥89॥

आकाश के गर्जन से वह अनहद नाद जो सहस्रार में नित्य हुआ करता है और वहाँ से अमृत के समान शक्ति का क्षरण होता रहता है। मेरुदण्ड की सुषुम्ना नाड़ी में चक्रों का प्रकाश होता रहता है। कबीर कहते हैं कि इस अपूर्व अनुभूति के प्रत्यक्ष होने पर सिर झुक जाता है अथवा कोई और प्रभु का भक्त हो, जिसे यह अनुभूति हो जाय तो उसका सिर झुक जाएगा।

नींव बिहूनां देहुरा, देह बिहूनां देव।
कबीर तहाँ बिलंबिया, करै अलख की सेव।।90।।

शून्य शिखर तक पहुँचने पर जीव को एक ऐसे दिव्य भाव का दर्शन होता है, जिसका सादृश्य स्थूल जगत् में नहीं मिलता। स्थूल जगत् में सुदृढ़ नीव पर बने हुए ईंट-पत्थर के देवालय में देव का दर्शन होता है, किन्तु वहाँ पर बिना किसी नींव के देवालय में देव के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता है और वह देव भी निराकार होता है। कबीर उसका अनुभव कर उसमें रम गया और अलक्ष्य सत् की सेवा में लग गया।

देवल माँहे देहुरी, तिल जेता बिस्तार।
माँहे पाती माँहि जल, माँ है पूजन हार।।91।।

इसी शरीर रूपी देवालय में प्रवेश करने के लिए देहरी विद्यमान है, जिसकी परिधि तिल के समान सूक्ष्म है। इस देवालय में बाहर से जल, पत्र आदि नहीं लाया जाता, भीतर ही पत्र है, जल है और पूजनेवाला भी है।

कबीर कँवल प्रकासिया, ऊगा निर्मल सूर।
निसि अँधियारी मिटि गई, बाजे अनहद तूर।।92।।

कबीर कहते हैं कि सहस्रार के प्रकाश का भान हो गया, ज्ञान का सूर्य उदय हो गया, अज्ञान की अँधेरी रात समाप्त हो गई और अनाहत नाद की तुरही बजने लगी।

आकासे मुखि औंधा कुआँ, पाताले पनिहारि।
ताका जल कोई हंसा पीवै, बिरला आदि बिचारि।।93।।

गगन-मण्डल में एक सहस्रार रूपी अधोमुख कुआँ है जिसका मुख नीचे की ओर है, पाताल अर्थात् मूलाधार चक्र में पनिहारिन रूपी कुण्डलिनी स्थित है। जब साधना द्वारा वह सुषुम्ना मार्ग से होकर सहस्रार में पहुँचती है, तब शुद्ध जीव उसके अमृत-जल को पीने में समर्थ होता है। इस मूलतत्त्व पर किसी बिरले ने ही विचार किया है अर्थात् इसे कोई बिरला ही समझता है।

सिव सक्ति दिसि को जुवै, पछिम दिसा उठै धूरि।
जल में सिंह जु घर करै, मछली चढ़ै खजूरि।।94।।

सिद्धों, नाथ योगियों और कबीर में 'सक्ति' इड़ा का प्रतीक है और 'सिव' पिंगला का। जब मछली रूपी कुण्डलिनी ऊपर सहस्रार तक पहुँच जाती है, तब सिंह रूपी जीव मानसरोवर में अवगाहन करने लगता है। अर्थात् कुण्डलिनी का जागरण तभी संभव होता है, जब इड़ा-पिंगला में स्थित प्राण-अपान वायु

तुल्यबल हो जायँ। किन्तु कोई ऐसा विरला ही जीव है, जो इस मार्ग का अनुसंधान कर सकता है।

अमृत बरिसै हीरा निपजै, घंटा पड़ै टकसाल।
कबीर जुलाहा भया पारखी, अनुभौ उतर्या पार।।95।।

कबीर कहते हैं कि जब शुद्ध अनाहत नाद का परिचय हो जाता है, तब संकल्प-विकल्पात्मक मन उसी में लय को प्राप्त हो जाता है। हमने उसका परिचय प्राप्त कर लिया है और अपने अनुभव से भव-सागर के पार उतर गये हैं।

ममता मेरा क्या करै, प्रेम उघारी पौलि।
दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख सौलि।।96।।

प्रभु प्रेम ने रहस्य का द्वार खोल दिया। इससे मुझको दयामय प्रभु का दर्शन हो गया। अब ममता मेरा क्या बिगाड़ सकती है? अहं और मम का भाव ही समाप्त हो गया है और भव का कष्ट सुख की चादर बन गया अर्थात् सभी दु:ख आनन्द में परिणत हो गए।

लाँबि

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ।
बूँद समानी समुंद मैं, सो कत हैरी जाइ।।97।।

जैसे बूँद समुद्र को ढूँढते-ढूँढते जब उसमें मिल जाती है, तब उसका पृथक् अस्तित्त्व नहीं रह जाता है। वैसे ही परम को ढूँढते-ढूँढते मेरा अहं उसी में खो गया और उसका पृथक् अस्तित्त्व समाप्त हो गया। अर्थात् यह जीव जो पहले नाम-रूप को लेकर 'अहं' बना हुआ था, अब प्रभु की खोज में चलते-चलते नाम-रूप से पृथक् होकर प्रभु से तादात्म्य प्राप्त कर लिया है।

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ।
समुंद समाना बूँद मैं, सो कत हेर्या जाइ।।98।।

कबीर कहते हैं कि हे भाई सन्तो ! प्रभु को खोजते-खोजते मैं स्वंय खो गया। समुद्र (अंशी) ने बूँद (अंश) को आत्मसात् कर लिया। अब उस बूँद का पृथक् अस्तित्त्व कैसे खोजा जा सकता है ? अर्थात् एक बार प्रभु से आत्मसात् होने के पश्चात उससे विरक्त नहीं हुआ जा सकता।

2. आत्म-चेतना व समाज सुधारक

भक्ति युग के समस्त कवियों ने आत्म-चेतना जागृत करने पर विशेष बल दिया तथा धर्म के मार्ग पर चलकर ईश्वर से साक्षात्कार की बात कही। मीराबाई

और सूरदास की कृष्णभक्ति की पराकाष्ठा तथा तुलसीदास की अटूट रामभक्ति के कारण तत्कालीन हिंदू समाज की आस्थाओं को बल मिला और समाज एक बार फिर से आस्थावान् हो उठा।

कबीरदास ने तो हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को चेताया और अपनी-अपनी कुरीतियाँ छोड़कर उनसे मानव धर्म का निर्वाह करने के लिए कहा। इस दृष्टि से कबीर सबसे बड़े समाज-सुधारक कहे जा सकते हैं।

3. भक्ति की प्रधानता–

इस काल के काव्य में भक्ति के परम रूप के दर्शन होते हैं। इस काल में संपूर्ण वातावरण भक्तिमय हो गया था। इनके अतिरिक्त कवियों ने कुसंगति को त्यागकर सत्संगति को अपनाने पर विशेष बल दिया है ताकि मनुष्य में सद्गुणों का संचार हो सके। इस काल के काव्यों में भक्ति रस की प्रधानता के साथ ही साथ रस, छंद, अलंकार योजना आदि भावों का सुंदर चित्रण देखने को मिलता है।

तुलसीदास कृत रामचरितमानस, कवितावली, विनयपत्रिका तथा सूरदासकृत सूरसागर, सूर सारावली व साहित्य लहरी आदि इस काल की प्रमुख रचनाएँ हैं। इसी प्रकार निर्गुण शाखा में कबीरदास जी की साखी, सबद व रैमनी तथा मलिक मुहम्मद जायसी की पद्मावत आदि ग्रंथ प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि उत्तम साहित्य और भक्ति भाव दोनों ही अर्थों में भक्तिकाल हिंदी साहित्य का स्वर्णिम काल था। उस युग के महान कवियों द्वारा उत्तम काव्य साहित्य के साथ ही साथ समाज सुधार व लोगों में आत्म-चेतना व राष्ट्रीय चेतना जागृत करने हेतु अनेक प्रयासों को भुलाया नहीं जा सकता।

7

निर्गुण ज्ञानाश्रयी

निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रमुख संत कवियों का परिचय

कबीर, कमाल, रैदास या रविदास, धर्मदास, गुरू नानक, दादूदयाल, सुंदरदास, रज्जब, मलूकदास, अक्षर अनन्य, जंभनाथ, सिंगा जी, हरिदास निरंजनी।

कबीर

कबीर का जन्म 1397 ई. में माना जाता है। उनके जन्म और माता-पिता को लेकर बहुत विवाद है। लेकिन यह स्पष्ट है कि कबीर जुलाहा थे, क्योंकि उन्होंने अपने को कविता में अनेक बार जुलाहा कहा है। कहा जाता है कि वे विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे, जिसे लोकापवाद के भय से जन्म लेते ही काशी के लहरतारा ताल के पास फेंक दिया गया था। अली या नीरू नामक जुलाहा बच्चे को अपने यहाँ उठा लाया। इस प्रकार कबीर ब्राह्मणी के पेट से उत्पन्न हुए थे, लेकिन उनका पालन-पोषण जुलाहे के यहाँ हुआ। बाद में वे जुलाहा ही प्रसिद्ध हुए। कबीर की मृत्यु के बारे में भी कहा जाता है कि हिन्दू उनके शव को जलाना चाहते थे और मुसलमान दफनाना। इस पर विवाद हुआ, किन्तु पाया गया कि कबीर का शव अंतर्धान हो गया है। वहाँ कुछ फूल हैं। उनमें कुछ फूलों को हिन्दुओं ने जलाया और कुछ को मुसलमानों ने दफनाया।

कबीर की मृत्यु मगहर जिला बस्ती में सन् 1518 ई. में हुई।

कबीर का अपना पंथ या संप्रदाय क्या था, इसके बारे में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। वे रामानंद के शिष्य के रूप में विख्यात हैं, किन्तु उनके 'राम' रामानंद के 'राम' नहीं हैं। शेख तकी नाम के सूफी संत को भी कबीर का गुरू कहा जाता है, किन्तु इसकी पुष्टि नहीं होती। संभवत: कबीर ने इन सबसे सत्संग किया होगा और इन सबसे किसी न किसी रूप में प्रभावित भी हुए होंगे।

इससे प्रकट होता है कि कबीर की जाति के विषय में यह दुविधा बराबर बनी रही है। इसका कारण उनके व्यक्तित्व, उनकी साधना और काव्य में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो हिन्दू या मुसलमान कहने-भर से नहीं प्रकट होतीं. उनका व्यक्तित्व दोनों में से किसी एक में नहीं समाता।

उनकी जाति के विषय में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'कबीर' में प्राचीन उल्लेखों, कबीर की रचनाओं, प्रथा, वयनजीवी अथवा बुनकर जातियों के रीति-रिवाजों का विवेचन-विश्लेषण करके दिखाया है–

आज की वयनजीवी जातियों में से अधिकांश किसी समय ब्राह्मण श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करती थी। जागी नामक आश्रम-भ्रष्ट घरबारियों की एक जाति सारे उत्तर और पूर्वी भारत में फैली थी। ये नाथपंथी थे। कपड़ा बुनकर और सूत कातकर या गोरखनाथ और भरथरी के नाम पर भीख माँग कर जीविका चलाया करते थे। इनमें निराकार भाव की उपासना प्रचलित थी, जाति भेद और ब्राह्मण श्रेष्ठता के प्रति उनकी कोई सहानुभूति नहीं थी और न अवतारवाद में ही कोई आस्था थी। आस-पास के वृहत्तर हिन्दू-समाज की दृष्टि में ये नीच और अस्पृश्य थे। मुसलमानों के आने के बाद ये धीरे-धीरे मुसलमान होते रहे। पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में इनकी कई बस्तियों ने सामूहिक रूप से मुसलमानी धर्म ग्रहण किया। कबीर दास इन्हीं नवधर्मांतरित लोगों में पालित हुए थे।

रज्जब

(17वीं शती)

रज्जब दादू के शिष्य थे। ये भी राजस्थान के थे। इनकी कविता में सुंदरदास की शास्त्रीयता का तो अभाव है। किन्तु पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार–

रज्जब दास निश्चय की दादू के शिष्यों में सबसे अधिक कवित्व लेकर उत्पन्न हुए थे। उनकी कविताएँ भावपन्न, साफ और सहज हैं। भाषा पर राजस्थानी प्रभाव अधिक है और इस्लामी साधना के शब्द भी अपेक्षाकृत अधिक हैं।

अक्षर अनन्य

सन् 1653 में इनके वर्तमान रहने का पता लगता है। ये दतिया रियासत के अंतर्गत सेनुहरा के कायस्थ थे और कुछ दिनों तक दतिया के राजा पृथ्वीचंद के दीवान थे। पीछे ये विरक्त होकर पन्ना में रहने लगे। प्रसिद्ध छत्रसाल इनके शिष्य हुए। एक बार ये छत्रसाल से किसी बात पर अप्रसन्न होकर जंगल में चले गए. पता लगने पर जब महाराज छत्रसाल क्षमा प्रार्थना के लिए इनके पास गए तब इन्हें एक झाड़ी के पास खूब पैर फैलाकर लेटे हुए पाया। महाराज ने पूछा-'पाँव पसारा कब से?' चट से उत्तर मिला-'हाथ समेटा जब से'।

ये विद्वान थे और वेदांत के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने योग और वेदांत पर कई ग्रंथ लिखे।

कृतियाँ – 1. राजयोग 2. विज्ञानयोग 3. ध्यानयोग 4. सिद्धांतबोध 5. विवेकदीपिका 6. ब्रह्मज्ञान 7. अनन्य प्रकाश आदि।

'दुर्गा सप्तशती' का भी हिन्दी पद्यों में अनुवाद किया।

मलूकदास

मलूकदास का जन्म लाला सुंदरदास खत्री के घर में वैशाख कृष्ण 5, सन् 1574 ई. में कड़ा, जिला इलाहाबाद में हुआ।

इनकी मृत्यु 108 वर्ष की अवस्था में सन् 1682 में हुई। वे औरंगजेब के समय में दिल के अंदर खोजने वाले निर्गुण मत के नामी संतों में हुए हैं और उनकी गद्दियाँ कड़ा, जयपुर, गुजरात, मुलतान, पटना, नेपाल और काबुल तक में कायम हुई। इनके संबंध में बहुत से चमत्कार और करामातें प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि एक बार इन्होंने एक डूबते हुए शाही जहाज को पानी के ऊपर उठाकर बचा लिया था और रूपयों का तोड़ा गंगाजी में तैरा कर कड़े से इलाहबाद भेजा था।

आलसियों का यह मूल मंत्र–

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम ।
दास मलूका कहि गए, सबको दाता राम ॥

इन्हीं का है। हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को उपदेश में प्रवृत्त होने के कारण दूसरे निर्गुणमार्गी संतों के समान इनकी भाषा में भी फारसी और अरबी शब्दों का प्रयोग है। इसी दृष्टि से बोलचाल की खड़ीबोली का पुट इन सब संतों की बानी में एक-सा पाया जाता है। इन सब लक्षणों के होते हुए भी इनकी भाषा सुव्यवस्थित और सुंदर है। कहीं-कहीं अच्छे कवियों का-सा पदविन्यास और कवित्त आदि छंद भी पाए जाते हैं। कुछ पद बिल्कुल खड़ीबोली में हैं। आत्मबोध, वैराग्य, प्रेम आदि पर इनकी बानी बड़ी मनोहर है।

कृतियाँ – 1. रत्नखान 2. ज्ञानबोध

सुंदरदास

(1596 ई.-1689ई.)

सुंदरदास 6 वर्ष की आयु में दादू के शिष्य हो गए थे। उनका जन्म 1596 ई. में जयपुर के निकट द्यौसा नामक स्थान पर हुआ था। इनके पिता का नाम परमानंद और माता का नाम सती था। दादू की मृत्यु के बाद एक संत जगजीवन के साथ वे 10 वर्ष की आयु में काशी चले आए. वहाँ 30 वर्ष की आयु तक उन्होंने जमकर अध्ययन किया। काशी से लौटकर वे राजस्थान में शेखावटी के निकट फतहपुर नामक स्थान पर गए। वे फारसी भी बहुत अच्छी जानते थे।

उनका देहांत सांगामेर में 1689 ई. में हुआ।

निर्गुण संत कवियों में सुंदरदास सर्वाधिक शास्त्रज्ञ एवं सुशिक्षित थे। कहते हैं कि वे अपने नाम के अनुरूप अत्यंत सुंदर थे। सुशिक्षित होने के कारण उनकी कविता कलात्मकता से युक्त और भाषा परिमार्जित है। निर्गुण संतों ने गेय पद और दोहे ही लिखे हैं। सुंदरदास ने कवित्त और सवैये भी रचे हैं। उनकी काव्यभाषा में अलंकारों का प्रयोग खूब है। उनका सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथ 'सुंदरविलास' है।

काव्यकला में शिक्षित होने के कारण उनकी रचनाएँ निर्गुण साहित्य में विशिष्ट स्थान रखती हैं। निर्गुण साधना और भक्ति के अतिरिक्त उन्होंने सामाजिक व्यवहार, लोकनीति और भिन्न क्षेत्रों के आचार-व्यवहार पर भी उक्तियाँ कही हैं। लोकधर्म और लोक मर्यादा की उन्होंने अपने काव्य में उपेक्षा नहीं की है।

व्यर्थ की तुकबंदी और ऊटपटाँग बानी इनको रुचिकर न थी। इसका पता इनके इस कवित्त से लगता है–

बोलिए तौ तब जब बोलिबे की बुद्धि होय,
ना तौ मुख मौन गहि चुप होय रहिए ।
जोरिए तौ तब जब जोरिबै को रीति जानै,
तुक छंद अरथ अनूप जामे लहिए ॥
गाइए तौ तब जब गाइबे को कंठ होय,
श्रवन के सुनतहीं मनै जाय गहिए ।
तुकभंग, छंदभंग, अरथ मिलै न कछु,
सुंदर कहत ऐसी बानी नहिं कहिए ॥

कृतियाँ–1. सुंदरविलास

दादूदयाल

(1544ई.-1603ई.)

कबीर की भाँति दादू के जन्म और उनकी जाति के विषय में विवाद और अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। कुछ लोग उन्हें गुजराती ब्राह्मण मानते हैं कुछ लोग मोची या धुनिया। प्रो. चंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी और क्षितिमोहन सेन के अनुसार दादू मुसलमान थे और उनका नाम दाऊद था। कहते हैं दादू बालक रूप में साबरमती नदी में बहते हुए लोदीराम नामक नागर ब्राह्मण को मिले थे। दादू के गुरू का भी निश्चित रूप से पता नहीं लगता। कुछ लोग मानते हैं कि वे कबीर के पुत्र कमाल के शिष्य थे। पं. रामचंद्र शुक्ल का विचार है कि उनकी बानी में कबीर का नाम बहुत जगह आया है और इसमें कोई संदेह नहीं कि वे उन्हीं के मतानुयायी थे। वे आमेर, मारवाड़, बीकानेर आदि स्थानों में घूमते हुए जयपुर आए। वहीं के भराने नामक स्थान पर 1603 ई. में शरीर छोड़ा। वह स्थान दादू पंथियों का केन्द्र है। दादू की रचनाओं का संग्रह उनके दो शिष्यों संतदास और जगनदास ने 'हरडेवानी' नाम से किया था। कालांतर में रज्जब ने इसका सम्पादन 'अंगवधू' नाम से किया।

दादू की कविता जन सामान्य को ध्यान में रखकर लिखी गई है, अतएव सरल एवं सहज है। दादू भी कबीर के समान अनुभव को ही प्रमाण मानते थे। दादू की रचनाओं में भगवान के प्रति प्रेम और व्याकुलता का भाव है। कबीर की

भाँति उन्होंने भी निर्गुण निराकार भगवान को वैयक्तिक भावनाओं का विषय बनाया है। उनकी रचनाओं में इस्लामी साधना के शब्दों का प्रयोग खुलकर हुआ है। उनकी भाषा पश्चिमी राजस्थानी से प्रभावित हिन्दी है। इसमें अरबी-फारसी के काफी शब्द आए हैं, फिर भी वह सहज और सुगम है।

कृतियाँ – 1. हरडेवानी 2. अंगवधू

गुरू नानक

गुरू नानक का जन्म 1469 ईसवी में कार्तिक पूर्णिमा के दिन तलवंडी ग्राम, जिला लाहौर में हुआ था।

इनकी मृत्यु 1531 ईसवी में हुई।

इनके पिता का नाम कालूचंद खत्री और माँ का नाम तृप्ता था। इनकी पत्नी का नाम सुलक्षणी था। कहते हैं कि इनके पिता ने इन्हें व्यवसाय में लगाने का बहुत उद्यम किया, किन्तु इनका मन भक्ति की ओर अधिकाधिक झुकता गया। इन्होंने हिन्दू-मुसलमान दोनों की समान धार्मिक उपासना पर बल दिया। वर्णाश्रम व्यवस्था और कर्मकांड का विरोध करके निर्गुण ब्रह्म की भक्ति का प्रचार किया। गुरू नानक ने व्यापक देशाटन किया और मक्का-मदीना तक की यात्रा की। कहते हैं मुगल सम्राट बाबर से भी इनकी भेंट हुई थी। यात्रा के दौरान इनके साथी शिष्य रागी नामक मुस्लिम रहते थे जो इनके द्वारा रचित पदों को गाते थे।

गुरू नानक ने सिख धर्म का प्रवर्त्तन किया। गुरू नानक ने पंजाबी के साथ हिन्दी में भी कविताएँ की। इनकी हिन्दी में ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों का मेल है। भक्ति और विनय के पद बहुत मार्मिक हैं। गुरू नानक ने उलटबाँसी शैली नहीं अपनाई है। इनके दोहों में जीवन के अनुभव उसी प्रकार गुँथे हैं जैसे कबीर की रचनाओं में। 'आदिगुरू ग्रंथ साहब' के अंतर्गत 'महला' नामक प्रकरण में इनकी बानी संकलित है। उसमें सबद, सलोक मिलते हैं।

गुरू नानक की ही परम्परा में उनके उत्तराधिकारी गुरू कवि हुए। इनमें है–

गुरू अंगद (जन्म 1504 ई.)
गुरू अमरदास (जन्म 1479 ई.)
गुरू रामदास (जन्म 1514 ई.)
गुरू अर्जुन (जन्म 1563ई.)

गुरू तेगबहादुर (जन्म 1622ई.) और
गुरू गोविन्द सिंह (जन्म 1664ई.)।
गुरू नानक की रचनाएँ – 1. जपुजी 2. आसादीवार 3. रहिरास 4. सोहिला

धर्मदास

ये बांधवगढ़ के रहनेवाले और जाति के बनिए थे। बाल्यावस्था में ही इनके हृदय में भक्ति का अंकुर था और ये साधुओं का सत्संग, दर्शन, पूजा, तीर्थाटन आदि किया करते थे। मथुरा से लौटते समय कबीरदास के साथ इनका साक्षात्कार हुआ। उन दिनों संत समाज में कबीर की पूरी प्रसिद्धि हो चुकी थी। कबीर के मुख से मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, देवार्चन आदि का खंडन सुनकर इनका झुकाव 'निर्गुण' संतमत की ओर हुआ। अंत में ये कबीर से सत्य नाम की दीक्षा लेकर उनके प्रधान शिष्यों में हो गए और सन् 1518 में कबीरदास के परलोकवास पर उनकी गद्दी इन्हीं को मिली। कबीरदास के शिष्य होने पर इन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति, जो बहुत अधिक थी, लुटा दी। ये कबीर की गद्दी पर बीस वर्ष के लगभग रहे और अत्यंत वृद्ध होकर इन्होंने शरीर छोड़ा। इनकी शब्दावली का भी संतों में बड़ा आदर है। इनकी रचना थोड़ी होने पर भी कबीर की अपेक्षा अधिक सरल भाव लिए हुए है, उसमें कठोरता और कर्कशता नहीं है। इन्होंने पूर्वी भाषा का ही व्यवहार किया है। इनकी अन्योक्तियों के व्यंजक चित्र अधिक मार्मिक हैं क्योंकि इन्होंने खंडन-मंडन से विशेष प्रयोजन न रख प्रेमतत्त्व को लेकर अपनी वाणी का प्रसार किया है।

उदाहरण के लिए ये पद देखिए
मितऊ मड़ैया सूनी करि गैलो ।।
अपना बलम परदेश निकरि गैलो, हमरा के किछुवौ न गुन दै गैलो ।
जोगिन होइके मैं वन वन ढूँढ़ौ, हमरा के बिरह बैराग दै गैलो ।।
सँग की सखी सब पार उतरि गइलो, हम धनि ठाढ़ि अकेली रहि गैलो।
धरमदास यह अरजु करतु है, सार सबद सुमिरन दै गैलो ।।

रैदास या रविदास

रामानंद जी के बारह शिष्यों में रैदास भी माने जाते हैं। उन्होंने अपने एक पद में कबीर और सेन का उल्लेख किया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वे कबीर से छोटे थे। अनुमानत: 15वीं शती उनका समय रहा होगा। धन्ना और

मीराबाई ने रैदास का उल्लेख आदरपूर्वक किया है। यह भी कहा जाता है कि मीराबाई रैदास की शिष्या थीं। रैदास ने अपने को एकाधिक स्थलों पर चमार जाति का कहा है–

कह रैदास खलास चमारा
ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार

रैदास काशी के आस-पास के थे। रैदास के पद आदि गुरूग्रंथ साहब में संकलित हैं। कुछ फुटकल पद सतबानी में हैं।

रैदास की भक्ति का ढाँचा निर्गुणवादियों का ही है, किन्तु उनका स्वर कबीर जैसा आक्रामक नहीं। रैदास की कविता की विशेषता उनकी निरीहता है। वे अनन्यता पर बल देते हैं। रैदास में निरीहता के साथ-साथ कुंठाहीनता का भाव द्रष्टव्य है। भक्ति-भावना ने उनमें वह बल भर दिया था जिसके आधार पर वे डंके की चोट पर घोषित कर सकें कि उनके कुटुंबी आज भी बनारस के आस-पास ढोर (मूर्दा पशु) ढोते हैं और दासानुदास रैदास उन्हीं का वंशज है–

जाके कुटुंब सब ढोर ढोवंत
फिरहिं अजहुँ बानारसी आस-पास ।
आचार सहित बिप्र करहिं डंडउति
तिन तनै रविदास दासानुदासा ॥

रैदास की भाषा सरल, प्रवाहमयी और गेयता के गुणों से युक्त है।

सिंगाजी

चार सौ अस्सी वर्ष पूर्व की बात है। भामगढ़ (मध्य प्रदेश) के राजा के यहां एक निरक्षर युवा सेवक का काम करता था। एक दिन वह डाकघर से आ रहा था। रास्ते में उसने परमविरक्ति के भाव में रंगी कुछ पंक्तियां सुनीं-

'समझि लेओ रे मना भारि!
अंत न होय कोई आपना।
यही माया के फंद में
नर आज भुलाना।'

यह विलक्षण सुरीली तान तीर की तरह उस युवक के हृदय में गहरे पैठ गई। वह सोचने लगा इक जब हमारा नाता इस दुनिया से टूटना ही है, यहां अपना कोई नहीं होगा, तो फिर हम इस मायाजाल के भ्रम में क्यों फंसें? इसके बाद वह संत मनरंग के पास पहुँचा, जो संत ब्रह्मगिरि के शिष्य थे। संत

मनरंगइर के समीप पहुँचते ही उसने उनके चरण स्पर्श किए। यह प्रणाम उसके युवा जीवन का सम्पूर्ण समर्पण सिद्ध हुआ। इसके बाद उसने भामगढ़ के राजा की नौकरी छोड़ दी। यह युवक थे, 'सिंगा जी', जो सेवक की नौकरी करने के पहले हरसूद में रहते हुए वन में गाय-भैंसें चराने का काम करते थे। सिंगा जी का जन्म संवत् 1576 में ग्राम पीपला के भीमा जी गौली के यहां हुआ था। उनकी जन्मदायनी थीं माता गौराबाई। सिंगा जी की बाल्यावस्था बड़वानी के खजूरी ग्राम में व्यतीत हुई। तत्पशचात् इनका परिवार हरसूद में आकर बस गया। यहीं सिंगा जी बड़े हुए। और कुछ दिन बाद भामगढ़ के राजा के यहां इनको सेवक की नौकरी मिल गई, परन्तु अब वे विरक्त होकर महात्मा मनरंग को समर्पित हो गए। इस सेवा, समर्पण तथा साधना ने सेवक और चरवाहा रहे सिंगा जी का जीवन समग्रतः बदल दिया। आध्यात्मिक साधनारत रहते-रहते निरक्षर सिंगा जी को अदृष्ट के अंतराल से वाणी आयी और अपढ़ सिंगा जी की वाणी से एक के बाद एक भक्ति पद और भजन मुखरित होने लगे। वे स्वरचित पद गाया करते थे। सिंगा जी के तमाम पद निमाड़ी बोली में हैं। यात्राओं में निमाड़ी पथिकों के काफिले बैलगाड़ियों पर बैठे-बैठे आज भी इन्हें गुंजाते रहते हैं।

निमाड़ में ग्राम-ग्राम और घर-घर में ये गाए जाते हैं। परन्तु सिंगा जी इतने भावुक तथा विचित्र मानस के संत थे कि निका जीवनान्त अभूतपूर्व तरीके से हुआ। एक बार जब श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी पड़ी तो श्रीकृष्ण जन्मोत्सव के पूर्व ही इनके गुरूदेव को नींद आने लगी। अतः इसे उन्होंने कहा 'जब मध्य रात्रि (12 बजे) आए तो हमें जगा देना।' और वे सो गए। सिंगा जी बैठे-बैठे जागते रहे, पर जब 12 बजे तो सिंगा जी ने सोचा गुरूदेव को क्यों जगाएं? उनहें सोने दें। मैं ही भगवान की आरती-अर्चना आदि सम्पन्न कर देता हूं। कुछ देर बाद जब मनरंग जागे, तो जन्मोत्सव की बेला बीत चुकी थी। वे बड़े क्रुद्ध हुए और क्रोध में ही गुरू ने शिष्य सिंगा जी को दुत्कार कर निकाल दिया, कहा-'यहां से जा, फिर कभी जीवन में मुंह मत दिखाना।' सिंगा जी गुरू के आदेश का पालन कर चले तो गए परन्तु उन्होंने सोचा, अब इस शरीर को रखें क्यों? इसकी अब जरूरत क्या है? यही सोचकर सिंगा जी पीपला चले गए, जहां वे जन्मे थे। वहीं 11 मास व्यतीत किए। संवत् 1616 की श्रावणी पूर्णिमा आयी तो उन्होंने पिपराहट नदी-तट पर अपने लिए एक समाधि तैयार की। एक हाथ में कपूर जलाकर दूसरे हाथ में जप-माला लेकर उसी समाइध की खोखली जगह में जा बैठे और वहां

जीवित ही समाधिस्थ हो गए। तब वे केवल 40 वर्ष के थे। जब यह समाचार उनके गुरू को मिला तो वे बहुत पछताए, दु:खी हुए।

आज भी निमाड़ के चरवाहे और किसान ढोलक-मृदंग बजाते हुए गाया करते हैं-

'सिंगा बड़ा औलिया पीर,
जिसको सुमेर राव अमीर।'

निमाड़ के मुसलमान उसे 'औलिया' और पहुँचा हुआ 'पीर' ही मानते हैं। वहां के गूजर समाज की पंचायतें दंडित अपराधी को यह कहकर छोड़ देती हैं कि, 'जा सिंगा जी महाराज के पांव लाग ले।' और वह अपराधी सिंगा जी की समाधि का स्पर्श कर, उसे प्रणाम कर अपराध-मुक्त और शुद्ध हो जाता है। हिन्दू-मुसलमान सभी बैल आदि कुछ भी खो जाने पर सिंगा जी की समाधि पर आकर मनौती मानते हैं। आज खंडवा-हरदा रेलवे मार्ग पर 'सिंगा जी' नाम का रेलवे स्टेशन भी है। निमाड़ ही नहीं, दूरस्थ स्थानों से भी लाखों आस्थावान यात्री प्रतिवर्ष सिंगा जी की समाधि पर एकत्र होते हैं। मुसलमान दुआ करते हैं, तो हिन्दू यात्री मनौतियां मानते-प्रसाद चढ़ाते हैं।

8

सगुण का अर्थ

परम सत्ता जहां प्रकृति के बन्धन से मुक्त है, उसे निर्गुण और जहां बन्धनयुक्त है, उसे सगुण कहते हैं। सगुण में भी दो विभाग हैं। एक है उनका रूप और दूसरा अ-रूप। मनुष्य में जो बुद्धि, बोधि तथा मैं-पन आदि हैं, वे सब अ-रूप हैं। इन्हें देखा नहीं जा सकता। लेकिन मनुष्य को तो देखा जा सकता है। उसी तरह सगुण ब्रह्मा की भी बुद्धि, बोधि तथा 'मैं-पन' अ-रूप हैं। इसी कारण हम उसे देख नहीं सकते हैं।

दूसरा है रूपयुक्त। जैसे व्यक्ति अपने मन या चित्त को नहीं देख सकता है। परन्तु जैसे, हाथी के बारे में सोचते समय उसके चित्त में हाथी का रूप साकार हो उठता है -इतना स्पष्ट कि मन उसे देख लेता है। इसलिए चित्त भी कभी अ-रूप है और कभी रूपयुक्त। वैसे ही परमात्मा का चित्त भी रूपयुक्त है -यह दृश्यमान जगत जिसे हम विश्व कहते हैं, उनके चित्त में उभरने वाली आकृति है। यह विश्व ही रूप का समुद्र है और जब यह विषय होगा तब मन सगुण ब्रह्मा हो जाएगा। जहां सीमा का बन्धन है, वहीं रूप है। जहां सीमा नहीं है, असीम है, वही अ-रूप है। यहां गुण रह भी सकता है और नहीं भी। जहां गुण है उसे सगुण और जहां गुण नहीं है, उसे निर्गुण कहते हैं।

परमात्मा का चित्त है विश्व। यह उनकी चैत्तिक सृष्टि है। यह रूपवान है, इसलिए इसमें सीमा है।

सगुण रूप में ईश्वर के साकार स्वरूप का नाम ही अवतार है। निर्गुण निराकार का ध्यान तो सम्भव नहीं है, पर सगुण रूप में आकर वह इस संसार के कार्यों में फिर क्रम और व्यवस्था उत्पन्न करते हैं। हमारा प्रत्येक अवतार सर्व व्यापक चेततना सत्ता का मूर्त रूप है। श्री सुदर्शनसिंह ने लिखा है-

"अवतार शरीर प्रभु का नित्य-विग्रह है। वह न मायिक है और न पाँच भौतिक। उसमें स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरों का भेद भी नहीं होता। जैसे दीपक की ज्योति में विशुद्ध अग्नि है, दीपक की बत्ती की मोटाई केवल उस अग्नि के आकार का तटस्थ उपादान कारण है, ऐसे ही भगवान का श्री विग्रह शुद्ध सचिदानंदघन हैं। भक्त का भाव, भाव स्तर से उद्‌भूत है और भाव-बिस्तर नित्य धाम से। भगवान का नित्य-विग्रह कर्मजन्य नहीं है। जीवन की भाँति किसी कर्म का परिणाम नहीं है। वह स्वेच्छामय है, इसी प्रकार भगवानवतार कर्म भी आसक्ति की कामना या वासना के अवतार प्रेरित नहीं है, दिव्य लीला के रूप हैं। भगवान के अवतार के समय उनके शरीर का बाल्य-कौमारादि रूपों में परिवर्तन दीखता है, वह रूपों के आविर्भाव तथा तिरोभाव के कारण।"

जिस परमात्मा की वेदों में कविरूप में प्रशंसा की गई है अथवा जिसे क्रान्तदर्शी कहा गया है, विद्वान् लोग जिसके सम्बन्ध में यह कहते हैं कि वह परमात्मा दो रूपोंवाला है-सगुण और निर्गुण है-दयालु आदि गुणों के कारण वह सगुण है और निराकार, अकाय आदि गुणों के कारण निर्गुण है-ऐसे परमेश्वर को मनुष्यों में विद्वान् लोग अपने जीवन में धारण करते हैं-प्रकट करते हैं।

मनुष्य अपने चित्त में इस विश्व के जितने व्यापक रूप को धारण करेगा, उसका चैत्तिक विषय जितना बड़ा होगा, उसी के अनुसार उसकी श्रेष्ठता निर्धारित होगी। अतः साधना है मन के विषय को बड़ा बनाना।

समाज में मनुष्य यदि एक विशेष जिला, प्रान्त, देश आदि को लेकर व्यस्त रहे तो उनका चैत्तिक विषय छोटा ही रह जाएगा। उनमें ब्रह्मा साधना कभी भी नहीं हो सकती। इसके लिए उसे पूरे विश्व को अपने चित्त में धारण करना होगा। परमात्मा के लिए हिन्दू-मुसलमान-सिख-ईसाई आदि कुछ नहीं है। साधक का देश है विश्व-ब्रह्माण्ड और जाति है जीव मात्र।

धार्मिक साधना के लिए संपूर्ण जगत को अपना आलम्बन (विषय) बनाना चाहिए। जो विश्व-एकतावाद का प्रचार करते हैं, परन्तु मन में जिलावाद, जातिवाद तथा देशवाद आदि को प्रश्रय देते हैं, वे कपटी हैं। साधक को यह समझना चाहिए कि यह संपूर्ण विश्व मेरा है और हम इस पूरे विश्व के हैं।

समाज है मनुष्य की सामूहिक संस्था। इसमें एक सामूहिक संगति रहती है। जब तक मनुष्य इस विश्व-एकतावाद को नहीं अपनाएगा, तब तक समाज एक नहीं बन सकता है। आदर्श की भिन्नता के अनुसार सबका भिन्न-भिन्न समाज बनता रहेगा।

विश्व शान्ति के लिए इसी सिद्धांत को लेकर चलना होगा। इसी से धर्म की प्रतिष्ठा होगी। संप्रदायवाद और पंथवाद के द्वारा यह कभी संभव नहीं है। मजहब (रिलिजन) से जीवों की मुक्ति होने वाली नहीं है। सर्व-धर्म समन्वय भी एक कपटाचरण है। विश्व समभाव के लिए निर्गुण ब्रह्मा को ही मानना ही पड़ेगा तथा पूरे विश्व को अपने चित्त में रखना होगा। इस विश्व-एकतावाद को छोड़कर और बाकी जितने भी मार्ग हैं, वे हैं मृत्यु के मार्ग। मनुष्य को जीवन की साधना करनी चाहिए, न कि मौत की।

जगत में शान्ति की प्रतिष्ठा के लिए विश्व-एकतावाद को मानना पड़ेगा, किन्तु शान्ति भी आपेक्षिक सत्य है। पापी जब साधुओं के डर से सिर झुकाकर चलता है, तब उसे सात्विक शान्ति कहते हैं और जब सिर उठाकर चलता है, तब तामसिक शान्ति कहते हैं। विश्व-एकतावाद जिनका ध्येय है, वे अवश्य ही सात्विक प्रकृति के व्यक्ति होंगे। आत्मविभाजनी शक्ति को जड़ से नष्ट करना होगा। इसके लिए अपनी मानसिक तथा आध्यात्मिक साधना के द्वारा निरंतर अपना चैत्तिक विकास करते रहना होगा।

भगवान का अवतार नीति और धर्म की स्थापना के लिए होता रहा है। जब समाज में पापों, मिथ्याचारों, दूषितवृत्तियों, अन्याय का बाहुल्य हो जाता है, तब किसी न किसी रूप में पाप-निवृत्ति के लिए भगवान का स्वरूप प्रकट होता है। वह एक असामान्य प्रतिभाली व्यक्ति के रूप में होता है। उसमें हर प्रकार की शक्ति भरी रहती थी। वह स्वार्थ, लिप्सा के मद को, पाप के पुंज को अपने आत्म-बल से दूर कर देता है। दुराचार, छल कपट, धोखा, भय, अन्याय के वातावरण को दूर कर मनुष्य के हृदय में विराजमान देवत्व की स्थापना करता है।